सिद्ध योग

संस्थापक संरक्षक एवं सम्पादक
योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज

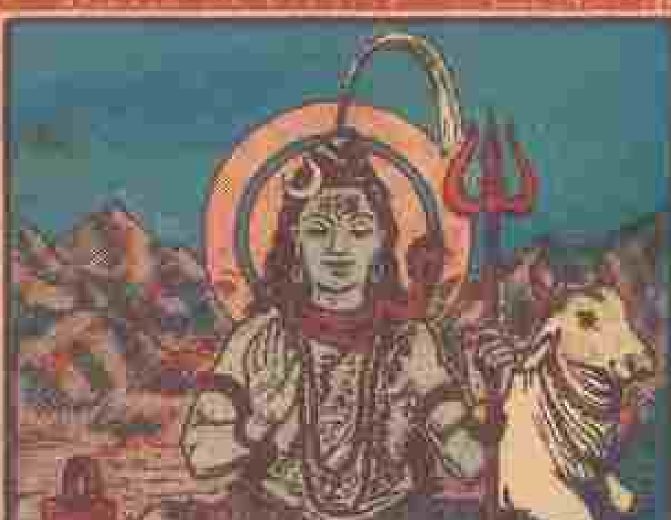

जनवरी १९७८
वर्ष १० अंक १०

श्री सिद्ध गुफा प्रकाशन
सेवाई आगरा

प्रकाशक

इस अंक में—

क्रम संख्या लेख	लेखक	पृष्ठ
१. स्वयमुदितचिन्तामणिगुणो	....	१
२. देवताओं के निमन्त्रण और योगी का कर्तव्य (हमारा विशेष लेख)	योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज	२
३. पत्रम्-पुष्पम्-फलम्-तोयम्	संकलित	७
४. कर्म-विपाक-बोध एवं क्षय	ब्रह्म० श्री वीरेन्द्रस्वरूप	९
५. सत्य, आस्था और विज्ञान	श्री पं० चक्रनारायण दीवान	१४
६. राजा पुरूरवा का वैराग्य	ब्रह्म० श्री वीरेन्द्रस्वरूप	१६
७. कुण्डलिनी जागरण से अमरत्व प्राप्ति	श्री हीरालाल शास्त्री	२०
८. अभिनन्दन-पत्र	डा० श्री नरेन्द्रकुमार ए०	२३
९. योग-साधना के सरल उपाय	श्री पूर्णचन्द्र पन्त शास्त्री	२८
१०. क्रिया-योग	श्री गिरीशदेव वर्मा	३२
११. आत्म-साक्षात्कार व योग	डा० श्री विष्णुदत्त शर्मा	३७
१२. अध्यात्म विद्या का आधार योग	डा० श्री राधेश्याम द्विवेदी	४१
१३. मार्ग योग का सरल बड़ा है (कविता)	श्री जुगमन्दरदास बी. ए.	४५
१४. योगेश्वर चरित्र-माला	....	४६
१५. श्री गुरुदेव जी का योग-प्रचार कार्यक्रम	टाइटिल	३
१६. सद्गुरु और शिष्य	टाइटिल	४

संयुक्त सम्पादक

दिव्य

फोन ९३१६८

वार्षिक मूल्य १५ रु०, एक प्रति १.५० पैसे मात्र

वर्ष १०
अङ्क १०

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्धं स्वभावम्,
मर्त्यो मृत्योर्मुखे विचरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः।
तत्प्राप्त्यर्थं बहुविषयवत् योगशास्त्रोपदेशात्,
कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोगः'॥

जनवरी
१९७८

❀ स्वयमुदितचिन्तामणिगुणो ❀

परेषां चेतांसि प्रतिदिवसमाराध्य बहुधा ।
प्रसादं किं नेतुं विशसि हृदयं क्लेशकलितम् ॥
प्रसन्ने त्वय्यन्तः स्वयमुदितचिन्तामणिगुणो ।
विमुक्तः सङ्कल्पः किमभिलषितं पुष्यति न ते ॥

अर्थात्

अरे हृदय ! तू प्रतिदिन अनेकों प्रकार के दूसरों की आराधना कर अत्यन्त प्रयास से मिलने वाले अनुग्रह को प्राप्त करने के लिए क्यों प्रवृत्त हो रहा है? तू जब अन्तर्मुख होकर अपने स्थान में रहेगा तो बिना प्रयत्न के ही समस्त अभीष्ट वस्तु को देने वाले चिन्तामणि का स्वयं तेरे में उदय होगा, तो क्या उस समय वह तेरी अभिलाषा को पूर्ण न कर सकेगा?

—श्री भर्तृहरि

हमारा विशेष लेख—

देवताओं के निमंत्रण और योगी का कर्त्तव्य

योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

भगवान पतञ्जलि देव ने 'द्विविधो योगः' कहकर के योग को दो श्रेणियों में विभक्त कर दिया, यह संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात इन दो नामों से द्विविध है। जिनमें संप्रज्ञात समाधि का लक्षण इस प्रकार लिखा है—

वितर्क विचारानन्दास्मितारूपानुगमात् संप्रज्ञातः।

अर्थात् वितर्कानुगम पहली श्रेणी विचारानुगम दूसरी श्रेणी आनन्दानुगम तीसरी एवं अस्मितानुगम चौथी। यह श्रेणी संप्रज्ञात योगकी है। संप्रज्ञात योगकी इन चारों श्रेणियों में योगी किन-किन विषयों का कैसे-कैसे अनुभव करता है, इसका सांकेतिक रूपसे विवरण श्री व्यासदेव जी ने इस प्रकार लिखा है—

वितर्क समाधि —

चित्तस्यालम्बने स्थूल आभोगः।

अर्थात् योगी जिस समय सवितर्का समापत्ति में संयम करता है उस समय उसको पंच महाभूतों के स्थूल स्वरूपों का साक्षात्कार होने लगता है। उसको सवितर्का समापत्ति कहते है। इस समाधि में स्थूल महाभूतों के साक्षात्कार में योगी के सामने भूमण्डल के दृश्य आते रहा करते हैं; जैसे पर्वतीय दृश्यों का आना, सुन्दर-सुन्दर नदियों एवं समुद्र आदि के दृश्यों का देखना, दहकती अग्नि एवं ज्वालाओं का देखना, एवं विविध प्रकार के दिव्य रूपों का साक्षात्कार, तेज चलती हुई वायु का अनुभव होना, इसी प्रकार आकाशादि का प्रत्यक्षीकरण, यह इस वितर्कानुगत योग का खास विषय रहता है। इस अनुभूति के बाद में—

विचारानुगम योग—

इस विचारानुगत समाधि में योगी महाभूतों के सूक्ष्म रूपों का साक्षात्कार करता है जैसे पृथ्वी का रूप गन्धतन्मात्र, जलका सूक्ष्म रूप रस तन्मात्र और अग्निका रूप तन्मात्र-वायु का सूक्ष्म रूप स्पर्शतन्मात्र और आकाश का सूक्ष्म रूप शब्द तन्मात्र आदि आदि का योगी को साक्षात्कार होता है और इसके साथ ही साथ दिव्य देवलोक जो इस मनुष्य लोक की अपेक्षा सूक्ष्म रूप से अवस्थित है उनका साक्षात्कार भी योगी को होता रहा करता है। इसके बाद तीसरी श्रेणी—

आनन्दानुगम योग —

भी है, इस समाधि में योगी तात्त्विक आह्लाद को प्राप्त होकर आनन्द विभोर रहा करता है। इस समाधिमें योगी रोग, शोक तथा चिन्ताओं से रहित हो जाता है। इसीलिए इस योग का नाम आनन्दानुगम योग है। इस समाधि में शोक रहित विशुद्ध तेज के अन्दर योगी आमोद के साथ भ्रमण करता है। इसी समाधि का अभ्यास करते-करते योगी अस्मितानुगम योग में प्रवेश कर जाता है। और उसके बाद वह योगी अपने आप को उस चित-सत्ता के अन्दर विलीन देखता है। इसी का नाम अस्मितानुगम समाधि एवं अस्मितानुगम योग है। अस्मिता का लक्षण भगवान पतञ्जलि देव ने इस प्रकार लिखा है—

दृग्दर्शनशक्त्यो रेकात्मतेवास्मिता ।

अर्थात् दृग्शक्ति और दर्शन-शक्ति (दृग्शक्ति जीवात्मा, दर्शन शक्ति बुद्धि) यह दोनों जब एक रूप में भाषित होते हैं उसी का नाम अस्मिता है। इसी को जड़ और चेतन की गाँठ कहा करते हैं। इस योग में विवेक-ख्याति को प्राप्त हुई बुद्धि अस्मि-अस्मि इस प्रत्यय के द्वारा आत्माकार से भासित होती रहती है। यही संप्रज्ञात योग की चार श्रेणियाँ हैं। इनमें से जिस समय योगी संप्रज्ञात योग की दूसरी श्रेणी विचारानुगम योग में प्रवेश करता है एवं इसको दिव्य देवलोक के साक्षात्कार होने लगते हैं तो योगी की अन्तःकरण की शुद्धि और उत्कृष्ट स्थिति को देखकर तत्तत् देवलोकों के स्थानाभिमानी देवता इस योगी का आदर करते हैं, एवं अपने-अपने लोकों में ले जाने को निमन्त्रित करते हैं। उस समय योगी का क्या कर्तव्य है इसका पूरा-पूरा निर्देश भगवान पतञ्जलि देव ने अपने निम्नांकित सूत्र में किया है—

स्थान्युपनिमन्त्रणे संगस्मयाकरणं पुनरनिष्ट प्रसंगात् ।

अर्थात् जिस समय इसके आत्मोत्थान को देखकर के स्थानाभिमानी देवता योगी का निमन्त्रण करें तो उनके प्रलोभन में नहीं आना चाहिए। एवं न ही किसी प्रकार का अभिमान करना चाहिए। इस सूत्र पर भाष्य लिखते हुए श्री व्यास देव जी ने सभी बातों का स्पष्टीकरण करते हुए योगी को क्या शिक्षा दी यह सब पढ़िये। व्यास देव के भाष्य की पंक्तियाँ—

चत्वारः खल्वमी योगिनः—प्रथम कल्पिकः, मधु भूमिकः प्रज्ञाज्योतिः, अतिक्रान्त भावनीयश्चेति, तत्राभ्यासी प्रवृत्तमात्र ज्योतिः प्रथमः, ऋतम्भर प्रज्ञो द्वितीयः, भूतेन्द्रियजयी तृतीयः, सर्वेषु भावितेषु भावनीयेषु कृतरक्षाबन्धः कृत-कर्तव्यसाधनादिमान्, चतुर्थो यस्त्वति-क्रान्त भावनीयस्तस्य चित्त प्रतिसर्ग एकोऽर्थः सप्तविधास्य प्रान्तभूमिप्रज्ञा, तत्र मधुमतीं भूमिं साक्षात्कुर्वतो ब्राह्मण-

स्य स्थानिनो देवाः सत्वशुद्धिमनुपश्यन्तः स्थानैरुपनिमन्त्रयन्ते भोरिहास्यतामिह रम्यतां, कमनीयोऽयं भोगः कमनीयेयं कन्या, रसायनमिदं जरामृत्यु बाधते। वैहायसमिदं यानम्, अमी कल्पद्रुमा, पुण्या मंदाकिनी, सिद्धाः महर्षयः, उत्तमा अनुकूला अप्सरसः, दिव्ये श्रोत्रचक्षुषी वज्रोपमः कायः, स्वगुणैः सर्वमिदमुपार्जितमायुष्मता, प्रतिपद्यतामिदमक्षयमजरममरस्थानं देवानां प्रियमिति, एवमभिधीयमानः सङ्गदोषान् भावयेद् घोरेषु संसाराङ्गारेषु पच्यमानेन मया जननमरणान्धकारे विपरिवर्तमानेन कथञ्चिदासादितः क्लेशतिमिर विनाशी योगप्रदीपः। तस्य चैते तृष्णायोनयो विषयवायवः प्रतिपक्षाः। स खल्वहं लब्धालोकः कथमनया विषयमृगतृष्णया वञ्चितस्तस्यैव पुनः प्रदीप्तस्य संसाराग्नेरात्मानमिन्धनीकुर्यामिति। स्वस्ति वः स्वप्नोपमेभ्यः कृपणजन प्रार्थनीयेभ्यो विषयेभ्यः इत्येवंनिश्चितमतिः समाधिं भावयेत्। सङ्गमकृत्वा स्मयमपि न कुर्यात्। एवमहं देवानामपि प्रार्थनीय इति। स्मयादयं सुस्थितंमन्यतया मृत्युना केशेषु गृहीतमिवात्मानं न भावयिष्यति। तथा चास्य छिद्रान्तरप्रेक्षीनित्यं यत्नोपचर्यः प्रमादो लब्धविवरः क्लेशानुत्तम्भयिष्यति ततः पुनरनिष्टप्रसङ्गः। एवमस्य सङ्गस्मयावकुर्वतो भावितोऽर्थो दृढी भविष्यति भावनीयश्चार्थोऽभिमुखी भविष्यतीति।

अर्थात् ये चार प्रकार के योगी होते हैं, जिसमें—

(१) प्रथम कल्पित, (२) मधु भूमिक, (३) प्रज्ञा ज्योति, (४) अति क्रान्त भावनीय।

इनमें से नं० १ जिस योगी ने प्रथम अभ्यास शुरू किया है, वह प्रवृत्तमात्र ज्योति कल्पित योगी है। दूसरा जिसको स्फुट प्रज्ञालोक हो चुका है, जिसकी बुद्धि ऋतम्भरा बन गई है वह मधु-भूमिक नाम का योगी है। तीसरा प्रज्ञा ज्योति नाम का वह योगी है, जिसने पंच महाभूतों और इन्द्रियों पर पूर्णरूपेण जय प्राप्त कर ली है। चौथा योगी अतिक्रान्त भावनीय नाम का है, जिसने भावित और भावनीय पर अधिकार प्राप्त कर लिया है एवं कृत-कर्त्तव्य साधना वाला है, इसकी सीमान्त प्रज्ञा सप्तविध होती है। जिस समय योगी मधुमति भूमिका साक्षात्कार करता हुआ आगे बढ़ता है तो उसके सत्वोत्कर्षों को देखकर स्थानिनी देवता लोग उसका आदर करते हैं और कहते हैं ओह! महात्मन यहाँ आइये, यहाँ निवास कीजिए, यह बहुत ही सुन्दर भोग है। कमनीयेयं कन्या—यह कन्या बहुत सुन्दर है, यह रसायन है जो बुढ़ापे और मौत को पास नहीं

आने देती, यह आकाश गामी यान है। यह कामना पूर्ण करने वाले कल्प वृक्ष है। यह पवित्र मन्दाकिनी नदी है। इधर यह महर्षि सिद्ध लोक है। यह देखो उत्तम मनोकूल बसने वाला अप्सराओं लोक है। इस लोक में दिव्य श्रोत्र और दिव्य चक्षु हर समय प्राप्त रहते हैं। परम सुन्दर एवं वज्र के समान तुम्हारा शरीर है। यह सब कुछ तुमने अपने पुरुषार्थ एवं तप के द्वारा प्राप्त किया है। यह अजर-अमर देवताओं के रहने के स्थान हैं। इस प्रकार से प्रार्थना किया जाता हुआ योगी संग दोषों की भावना करे, और यह सोचे कि संसार के तपे हुए अंगारों से जलते हुए मैंने बार-बार जन्म और मौत के चक्कर में पड़कर बड़ी भारी कठिनता के साथ क्लेश और अन्धकार का नाश करने वाले इस पवित्र योग प्रदीप को प्राप्त किया है, और यह तृष्णा आदि की विषैली वासना की वायु इस योग प्रदीप के बिलकुल विपरीत और विरोधी है। जो स्वयं लोक में मैं इस विषय भूत तृष्णा के जाल में फँस कर संसार की दहकती हुई अग्नि में क्यों अपने आपको ईंधन रूप बनाऊँ। इसलिए हे देवताओ यह सब भोग तो स्वप्न रूप है इन भोगों से दीन-हीन लोगों को लुभाया जा सकता है। इन सब भोगों से आप लोग ही सुख भोगें। यह कह करके योगी अपनी समाधि का ही अभ्यास करे, और उसके साथ-साथ 'एवमहं देवानामपि प्रार्थनीयोऽस्मि' इस घोर अहंकार को अपने आप को काल पाश में बँधा हुआ जानकर त्याग दे। यदि योगी थोड़ी सी भी लापरवाही करेगा तो यह क्लेश सब विवर होकर उस योगी पर आरूढ़ हो सकते हैं। इस प्रकार से संग स्मय से निवृत्त हुए योगी को समाधि में दृढ़ता प्राप्त होगी और उत्तरोत्तर अन्तर्मुखता की ओर बढ़ता जायेगा।

इसी प्रकार के संग-दोष को हटाने के लिए योगियों ने अपना स्थान वनस्थली रक्खा है। यह लोग किसी का सम्पर्क नहीं रखते, सदा-सर्वदा असंग रह कर अपने अध्यात्म स्वरूप में विलीन रहा करते हैं। क्योंकि 'सम्पर्कात् दोष गुणा भवन्ति' दोष एवं सब प्रकार के गुण संसर्ग से पैदा हुआ करते हैं। ऐसे निर्मल एकांत सेवी महात्मा ही अपने नित्य चेतन स्वरूप को पाकर निहाल हुआ करते हैं। अन्यथा एक साधारण नियम-सा चलता है, संसार में किसी के पास कोई धन हो जाय तो डाकू लुटेरे उसके पीछे लग जाया करते हैं। इस ही प्रकार अध्यात्म धन की भी बात है। जिसका आत्मोत्कर्ष ऊँचा हो जाता है प्रतिस्पर्धा वाले लोग उसको हर समय गिराने की चेष्टा करते रहा करते हैं। यह ईर्षा-द्वेष आदि के भाव स्वर्गीय देवताओं में भी भरपूर रहते हैं। मनुष्य लोक से कोई भी व्यक्ति अध्यात्म प्रधान होकर आत्मोत्कर्ष की ओर बढ़ता है तो

वह देवताओं के लिए असहनीय हो जाता है। वे लोग सोचते हैं कि यह अभी तक हमारा सेवक था और अब हम से भी ऊँचा बढ़कर हमारे भी स्वामित्व की ओर जा रहा है। इसीलिए उसके रास्ते में अन्तराय पैदा किया करते हैं। हमें इस समय साधकों के साथ बीती हुई एक घटनाओं का स्मरण हो रहा है, जिसके रास्ते में इस प्रकार के अन्तराय पैदा हुए और वे अन्तरायों से अभिभूत भी हो गये। योग प्रशिक्षण केन्द्र श्री सिद्ध गुफा-सवाई के आध्यात्म प्रधान कई साधकों के मार्ग में कई प्रकार के अन्तराय पैदा हुए। और उनमें से जो लोग अनन्य गुरु भक्त और निष्ठा-वान थे एवं विषैले वासना जाल से बचना चाहते थे वे लोग सर्व शक्तिमान प्रभु की कृपा से सुरक्षित रहे—किन्तु जिन्होंने भी यत्किञ्चित् अपने मन को इस प्रवाह के अन्दर प्रवाहित करना चाहा वे अपने आप को नहीं हो सम्भाल सके।

रमणीगिरि नागा—

आश्रम में नागा संन्यासियों के संप्रदाय से रमणीगिरि नाम का एक साधु आया। उसने योग साधना की शिक्षा प्राप्त की, सभी लोक लोकान्तरों को दिव्य दृष्टि के द्वारा देख लिया किन्तु बाद में उसको स्वर्गीय दृश्य देखने की आदत पड़ गई। जब श्री गुरुदेव जी ने उसको यह दृश्य देखने से मना किया तो उसको प्रलोभन कारी देवताओं ने आश्रम से चले जाने का परामर्श दिया। और उपरोक्त सूत्रके अन्दर जो बातें बतलाई गई है, उस ही प्रकार के कमनीयमं कर्मों के लालच भी दिये गये। उसको कहा गया कि तुम यहाँ से हटकर अमुक वनमें तप करो तो तुम्हें वहाँ सभी स्वर्गीय भोग प्रत्यक्षमें प्राप्त होंगे। वह यहाँ से चला तो गया, स्वर्गीय भोग तो कुछ नहीं प्राप्त कर सका किन्तु इस लोक के ही रूप-रसमें फँसकर अपने आप को परम पवित्र अध्यात्म मार्ग से वंचित कर लिया।

योगाभ्यासी ब्रह्मचारी हरिभक्त चैतन्य

यह ब्रह्मचारी जम्मू-काश्मीर प्रान्त के उत्तम योगाभ्यासी साधक हैं। जिस समय वे यहाँ के घोर वनों में घोर तपश्चर्या करते थे, तो इनके सामने भी इस प्रकार के अन्तराय पैदा हुए। देव-कन्यायें आदि को इन्होंने प्रत्यक्ष रूपसे देखा, किन्तु यह अपनी अध्यात्म-निष्ठा के बल पर अपने आपको सम्भाल गये एवं अपनी अध्यात्म निष्ठा को अक्षित रक्खा। अतः प्रत्येक साधक को चाहिए कि सांसारिक विषैले जाल से अपने आपको बचायें। जन्म-मरण के बन्धनों से मुक्ति पायें। इस वासना-जाल से दूर रहना ही मनुष्य का परम कर्त्तव्य है। आदिनायक भगवान श्रीकृष्ण के इस उद्देश्य को सामने रखना चाहिए।

निर्मान मोहा जितसंग दोषा,
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामा।
द्वन्द्वैर्विमुक्ता सुखदुःख संज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढा पदमव्ययं तत्॥

अर्थात् जो साधक मान-मोह से परे है एवं संग दोषों पर जिसने काबू पा लिया है, नियमानुसार अध्यात्म-परायण है, कामनाओं के गर्त से निकल गया है, सुख-दुःख संज्ञक द्वन्द्वों से अतीत हो गया है ऐसे ही लोग अव्यय पद को प्राप्त किया करते हैं।

पत्रम्-पुष्पम्-फलम्-तोयम्

स्थित प्रज्ञ के लक्षण

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥

हे अर्जुन ! जिस काल में (यह पुरुष) मन में स्थित सम्पूर्ण कामनाओं को भली-भांति त्याग देता है (और) आत्मा से आत्मा में ही सन्तुष्ट रहता है, उस काल में (वह) स्थित-प्रज्ञ कहा जाता है ।

× × ×

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥

दुखों की प्राप्ति होने पर जिसके मन में उद्वेग नहीं होता, सुखों की प्राप्ति में जो सर्वथा निःस्पृह है (तथा) जिसके राग, भय और क्रोध नष्ट हो गये हैं, (ऐसा) मुनि स्थिर बुद्धि कहा जाता है ।

× × ×

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

जो पुरुष सर्वत्र स्नेह रहित हुआ उस-उस शुभ या अशुभ (वस्तु) को प्राप्त होकर न प्रसन्न होता है (और) न द्वेष करता है, उसकी बुद्धि स्थिर है ।

× × ×

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

और कछुआ सब ओर से (अपने) अङ्गों को जैसे (समेट लेता है, वैसे ही) जब यह पुरुष इन्द्रियों के विषयों से इन्द्रियों को सब प्रकार से हटा लेता है, (तब) उसकी बुद्धि स्थिर है, (ऐसा समझना चाहिये) ।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥

(इन्द्रियों के द्वारा) विषयों को ग्रहण न करने वाले पुरुष के (भी केवल) विषय (तो) निवृत्त हो जाते हैं, (परन्तु उनमें रहने वाली) आसक्ति निवृत्त नहीं होती। इस स्थित-प्रज्ञ पुरुष की (तो) आसक्ति भी परमात्मा का साक्षात्कार करके निवृत्त हो जाती है।

× × ×

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥

हे अर्जुन ! (आसक्ति का नाश न) होने के कारण ये प्रमथन स्वभाव वाली इन्द्रियाँ यत्न करते हुए बुद्धिमान् पुरुष के मन को भी बलात्कार से हर लेती हैं।

× × ×

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

उन सम्पूर्ण इन्द्रियों को वश में करके समाहित चित्त हुआ मेरे परायण होकर ध्यान में बैठे, क्योंकि जिस पुरुष की (इन्द्रियां) वश में (होती हैं), उसी की बुद्धि स्थिर हो जाती है।

× × ×

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥

विषयों का चिन्तन करने वाले पुरुष की उन विषयों में आसक्ति हो जाती है, आसक्ति से (उन विषयों की) कामना उत्पन्न होती है (और) कामना (में विघ्न पड़ने) से क्रोध उत्पन्न होता है।

× × ×

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥

क्रोध से अत्यन्त मूढ़ भाव उत्पन्न होता है, मूढ़ भाव से स्मृति में भ्रम हो जाता है, स्मृति में भ्रम हो जाने से बुद्धि अर्थात् ज्ञान शक्ति का नाश हो जाता है (और) बुद्धि का नाश हो जाने से (यह पुरुष अपनी स्थिति से) गिर जाता है।

— गीता से साभार

कर्म-विपाक-बोध एवं क्षय

ब्र॰ ब्रह्मचारी श्री वीरेन्द्र स्वरूप, सराई आगरा

यह बिल्कुल निश्चित है कि मनुष्य अपने शुभाशुभ कर्मोंके द्वारा ही काल-चक्रके प्रभाव से विभिन्न योनियों में आ गिरता है। उसका कोई वश नहीं चलता और बार-बार उत्थान-पतन के चक्रमें पड़ा हुआ क्लेश पाता है। जब परमात्मा की कृपा से गर्भ में पड़े हुए जीव को दिव्य-दृष्टि मिलती है तब वह अपने विभिन्न योनियों में किये हुए पूर्व जन्मों को देखता है एवं शुभ तथा अशुभकर्मों को जानता है। उस समय वह अपने पूर्व हजारों योनियों में लिए हुए जन्म एवं कर्म तथा उन कर्मों के परिणामस्वरूप पाये हुए क्लेशों को देखकर अत्यन्त भयभीत होकर कम्पायमान होने लगता है और विचार करता है:—

आहार विविधा भुक्ताः,
पीता नानाविधाः स्तनाः।
जातश्चैव मृतश्चैव,
जन्म चैव पुनः पुनः॥
यन्मया परिजनस्यार्थे,
कृतं कर्म शुभाशुभम्।
एकाकी तेन दह्येऽहं,
गतास्ते फलभोगिनः॥

—(गर्भोपनिषद्).

जीव देखता है कि मैंने अपने पहले हजारों जन्मों में विविध प्रकार के आहारों का भोजन किया तथा नाना प्रकार के स्तनों का पान किया। मैंने बार-बार जन्म लिया और मरा तथा मर कर पुनः अनेक बार जन्म लिया। उन जन्मों में अपने परिवार वालों के हित के लिए जो-जो शुभ और अशुभ कर्म किये, उनके द्वारा आज मैं अकेला ही जला जा रहा हूँ, घोर संकट में पड़ा हुआ हूँ। उन भोगों को भोगने वाले तो न मालूम कहाँ चले गये किन्तु मैं यहां घोर दुःख के समुद्र में पड़ा हुआ हूँ, इससे निकलने का कोई उपाय मुझे नहीं सूझता, पता नहीं कब इससे छुटकारा पाऊँगा।

यदि योन्या प्रमुञ्चेऽहं तत्प्रपद्ये महेश्वरम्। अशुभक्षय कर्तारं फलमुक्ति-प्रदायकम्। यदि योन्याः प्रमुञ्चेऽहं तत्प्रपद्ये नारायणम्। अशुभक्षय कर्तारं फलमुक्ति प्रदायकम्। यदि योन्याः प्रमुञ्चेऽहं तत्सांख्य योगमभ्यसे। अशुभ क्षय कर्तारं फलमुक्ति प्रदायकम्। यदि योन्याः प्रमुञ्चेऽहं ध्याये ब्रह्म सनातनम्।

—(गर्भोपनिषद्)

अर्थात् यदि मैं इस गर्भ से बाहर निकल

जाऊँगा तब अशुभ कर्मों का क्षय करने वाले एवं मुक्ति रूप फल को देने वाले भगवान महेश्वर की शरण लूँगा। अब मैं इस योनि से मुक्त हो जाऊँगा तो भगवान नारायण की शरण ग्रहण करूँगा जो कि अशुभ कर्मों का क्षय कर मुक्ति प्रदान करने वाले हैं। यदि मैं इस योनि से छूट गया तो अशुभ कर्मों का क्षय कर मुक्ति प्रदान करने वाले योग का अभ्यास करूँगा। यदि मैं इस योनि से छूट गया तो सनातन ब्रह्म का ध्यान करूँगा। इस प्रकार से नाना प्रकार की प्रतिज्ञायें करता हुआ जीव जन्म लेता है—देखिए—

अथ योनिद्वारं संप्राप्तो यन्त्रेणापीड्यमानो महता दुःखेन जातमात्रस्तु वैष्णवेन वायुना संस्पृष्टस्तदा न स्मरति जन्ममरणानि न च कर्म शुभाशुभं विन्दति।

(गर्भोपनिषद्)

अर्थात् प्रतिज्ञायें करता हुआ जीव यन्त्र से पीड़ित किये जाते हुए के समान जिस प्रकार गन्ना कोल्हू में पेरा जाता है उसी प्रकार महान कष्ट से जन्म ले पाता है। किन्तु जन्म लेते ही वायु रूप माया का स्पर्श होता है और वह अपने पिछले सारे जन्म-मरण, शुभ तथा अशुभ कर्मों को तथा की हुई प्रतिज्ञाओं को भूल जाता है। दिव्य-दृष्टि नहीं रह जाती। कर्तव्य-बोध से शून्य हो जाता है।

कर्म की महिमा महान है। बिना इसके रहस्य को समझे यह जीवन व्यर्थ ही नष्ट हो जाता है। कर्म के स्वरूप को समझ कर ही उसका प्रतिपादन करना कल्याण का स्रोत है। कर्म के मर्म के व्याख्याता जगदात्मा श्रीकृष्ण श्रीमद्भगवद् गीता के चौथे अध्याय में बहुत स्पष्ट रूप में आज्ञा देते हैं। पढ़िए—

किं कर्म किमकर्मेति,
कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि,
यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥

(गीता अध्याय ४/१६)

अर्थात् कर्म क्या है और अकर्म क्या है, इस विषय में बुद्धिमान पुरुष भी मोहित हैं, भूले हुए हैं, भ्रमित हैं। वह कर्मों के तत्त्वों का भली प्रकार विवेचन मैं तुम्हारे प्रति कहूँगा, जिससे तुम कर्म के तत्त्व को पूर्णतः समझकर अशुभ अर्थात् संसार बन्धन से मुक्त हो जाओगे। और भी—

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं,
बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं
गहना कर्मणो गतिः॥

(गीता ४/१७)

अर्थात् कर्म के स्वरूप को जानना चाहिए और अकर्म के स्वरूप को भी जानना चाहिए तथा निषिद्ध कर्मों को भी स्वरूपतः जानना आवश्यक है क्योंकि कर्म की गति अत्यन्त गहन है। अपरंच:—

कर्मण्यकर्म यः पश्ये-
दकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु
स युक्तः कृत्स्न कर्म कृत्॥
(गीता ४/१८)

अर्थात् बिना इच्छा संकल्प के जिसमें मन का योग नहीं है ऐसे स्वाभाविक कर्म अपने शुभाशुभ फल तो न देने वाले होते हैं उनका कोई परिणाम नहीं होता अतः वह अकर्म है और इन्द्रियों से हरकतें न करता हुआ मन में तरह-तरह के संकल्प-विकल्प करता हुआ बाहर से शान्त मुद्रा में बैठा हुआ मनुष्य कर्म का कर्ता है। इस प्रकार से जिसकी बुद्धि रहती है वही मनुष्यों में बुद्धिमान है, युक्त योगी है और कर्मों के रहस्य को जानने वाला है। कर्म के शुभाशुभ फल में आसक्ति रखने वाला ही कर्म का कर्ता है। एवं—

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं
नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि
नैव किञ्चित्करोति सः॥
निराशीर्यतचित्तात्मा
त्यक्त सर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म
कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥
(गीता ४/२०, २१)

अर्थात् कर्म फल में आसक्ति का त्याग करके अपनी स्वरूप-स्थिति में तृप्त रहने वाला संकल्प-विकल्पों से रहित मन वाला योगी शरीर के द्वारा कर्म करता हुआ भी कर्मफल से बंधता नहीं है, वह किसी प्रकार से पाप का भागी नहीं होता है।

किन्तु इस प्रकार का आचरण युक्त योगी ही करने में समर्थ हैं, वही अपने चिति-स्वरूप में चित्तवृत्तियों के व्यापारों को छोड़कर स्थित रहा करते हैं। साधारण जीवों के साथ 'अहंकार' रहता ही है, राजस-तामस वृत्तियाँ पीछा छोड़ती ही नहीं हैं। बार-बार राजस-तामस वृत्तियाँ काम क्रोध एवं आसक्ति को पैदा कर जीव को मोहित किये रहती हैं। ऐसी स्थिति में जीव को अपने स्वरूप स्थिति में आने के लिए प्रयास—साधन भगवान् श्रीकृष्ण वीतराग पुरुष की शरण में जाने के लिए आदेश देते हैं—

तद्विद्धि प्रणिपातेन,
परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं,
ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥
यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं
यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण,
द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥
(गीता अध्याय ४/३४-३५)

अर्थात् अपनी चितिमय स्वरूप स्थिति को

प्राप्त करने के लिए उन तत्त्वदर्शी वीतराग महापुरुष के चरणों में जाकर विनयपूर्वक दण्डवत्-प्रणाम करके उनकी सेवा करते हुए उन्हें प्रसन्न करो। वह प्रसन्न होकर तुम्हें अपने आत्म-स्वरूप का बोध करायेंगे, तुम्हारे प्रति उस ज्ञान का उपदेश करेंगे, जिसको जान करके पुनः तुम्हारी बुद्धि इस प्रकार से राजस-तामस वृत्तियों द्वारा मोहित नहीं होगी और उस आत्म-स्वरूप बोध में स्थित हुआ तू सारे प्राणियों को अपने अन्दर देखेगा और उसी प्रकार मेरे स्वरूप में भी स्थित हुआ देखेगा। अर्थात्—

मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव

जिस प्रकार से माला के धागे के अन्दर मणियाँ पिरोई रहती हैं, उसी प्रकार यह सारा जगत मेरे में है ऐसा दीखने लगेगा।

किन्तु याद रहे वह आत्म-स्थिति जबर्दस्ती डालकर या किसी प्रकार का भय दिखलाकर नहीं प्राप्त हो सकती। वह स्थिति तो अर्जुन की तरह सत्य एवं विनय को धारण करके शरण-शरण ग्रहण करने पर वीतराग महापुरुष के द्वारा ही मिल सकती है। यथा—

कार्पण्य दोषोपहत स्वभावः,
पृच्छामि त्वां धर्म संमूढ़ चेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे,
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥

(गीता अध्याय २/७)

जब जीव उन वीतराग के चरणों में जाकर विनय करता है कि मैं कार्पण्य दोष से उपहृत हुआ कर्त्तव्याकर्त्तव्य के विषय में मोहित चित्त हुआ आपको पूछता हूँ, जो कुछ निश्चय किया हुआ कल्याण-कारक साधन हो वह मेरे लिए कहिये, क्योंकि मैं आपका शिष्य हूँ, इसलिए "त्वां प्रपन्नम् माम् शाधि।" आपके चरण-शरण पड़े हुए मुझको शिक्षा दीजिये। तभी इस प्रकार विनय करता हुआ सत्यवादी जीव सिद्धानुग्रह भाजन बन जाया करता है और वह कृतकृत्य हो जाता है अन्यथा वह इस संसार की ठोकरें खाता फिरता है।

गर्भ में की हुई प्रतिज्ञाओं को भूला हुआ जीव अपनी बाल्यावस्था में खेल-खेल में, युवावस्था में युवती के पाश में बँधा हुआ अपनी आयु को क्षीण करता रहता है, उसे स्वरूप-बोध नहीं हो पाता। यौवन की मधुरता उसे अपने पथ से भटकाती रहती है, किन्तु पूर्व-जन्म के किये पुण्यों के परिणामस्वरूप अदृश्य शक्ति उसके हृदयमें नवीन प्रेरणा भरने लगती है और उससे प्रेरित हुआ प्राणी विचार करने लगता है कि—

कुटुम्बं पुत्र दारांश्च,
शरीरं संचयाश्च ये।
पारक्यम ध्रुवं सर्वं किं,
स्वं सुकृत दुष्कृतम्॥

(शान्ति पर्व)

यह परिवार, यह पुत्र एवं प्रिय लगने वाली स्त्री, यह एकत्रित सम्पत्ति तथा अत्यन्त

प्यारा शरीर भी एक दिन नष्ट हो जायेगी। कुछ भी अपना नहीं रहेगा केवल किये हुए शुभ एवं अशुभ कर्म ही अपने साथ रहेंगे। अतः—

यदा सर्वं परित्यज्य
गन्तव्यमवशेन वै।
अनर्थे किं प्रसक्तस्त्वं
स्वमर्थं नानुतिष्ठसि॥
(शान्तिपर्व)

जब सब कुछ छोड़कर विवश होकर यहां से जाना ही पड़ेगा तो व्यर्थ ही तुम अनर्थ में क्यों लगे हुए हो अपने परम अर्थ आत्मानुसंधान में क्यों नहीं तत्पर होते।

तब उसके मन में इस प्रकार विषयों के प्रति वैराग्य का उदय होता है एवं कर्तव्य कर्म का बोध हो जाता। गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपने रामचरित मानस में स्पष्ट कहा है कि—

जानिय तबहिं जीव जग जागा।
जब सब विषय भोग वैरागा॥

अर्थात् संसार रूपी निद्रा से तभी जीव को जाग्रत हुआ समझना चाहिए जबकि उसके मन में संसार के विषय-भोगों के प्रति वैराग्य का उदय हो।

उस समय वह अदृश्य अज्ञात शक्ति उसके हृदय को कठोपनिषद् के इस मन्त्र से गुंजाय-मान करने लगती है कि—

उत्तिष्ठ जाग्रत
प्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्यधारानिशिता दुरत्यया
दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति॥
(प्रथम अध्याय, तृतीय वल्ली)

उठो, जागो और श्रेष्ठ पुरुषों के संसर्ग से परमात्मा को जानो क्यों कि बुद्धिमान पुरुष उसके मार्ग को तलवार की तीक्ष्ण धार के समान दुर्गम बतलाते हैं।

इस प्रकार उठा हुआ जीव वीतराग पुरुष की खोज में निकल पड़ता है और वे सद्गुरु देव कृपा करके उसे अपना लेते हैं। शनैः-शनैः वह जीव श्री गुरु कृपा से आत्म-लाभ कर लेता है। एवं उसके कर्मों का क्षय हो जाता है। जैसा कि मुण्डकोपनिषद् का वचन है—

भिद्यते हृदयग्रन्थि-
श्छिद्यन्ते सर्व संशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि
तस्मिन्दृष्टे परावरे॥

परब्रह्म परावर दर्शन के बाद हृदय ग्रन्थि का भेदन हो जाता है। सारे संशयों का क्षय हो जाता है तथा उस जीव के सारे कर्म-विपाक क्षीण होकर नष्ट हो जाते हैं।

इस प्रकार संस्कारों से खाली हुआ जीव सदैव अपने स्वरूप में स्थित रहता है।

मंत्र, आस्था और विज्ञान ✻

✻ श्री पं० चन्द्र नारायण दीवान, दतिया

वर्तमान युग में जहाँ एक ओर मनुष्य आत्मिक शान्ति की खोज में है वहीं दूसरी ओर वह धर्म के प्रति अनास्था भी रखता है। धर्म की कोई शाखा जो सनातन से सम्बन्धित हो और ब्रह्म प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त करती हो, मन्त्र जप को एक महत्वपूर्ण संज्ञा प्रदान की गई है। मन्त्र एक क्रमबद्ध विशिष्ट शब्द संरचना है जिसके द्वारा अप्रत्याशित कार्य सिद्ध होते देखे जा सकते हैं। यदि कोई व्यक्ति अत्यधिक अशान्त है और मन्त्र जप से उसे कुछ शान्ति प्राप्त होती है तो हमारे आधुनिक विचारक वैज्ञानिक उसे मनोवैज्ञानिक प्रभाव कह टालते हैं। मन्त्र शक्ति क्या है ? यदि इस पर वैज्ञानिक शोध किया जाये तो हमारे वेद की प्रत्येक ऋचा संसार में, विशेष रूप से आध्यात्मिक क्षेत्र में अमूल्य-निधि साबित होगी। उन पाठकों के सामने जो मन्त्र जाप में किंचित मात्र भी सन्देह रखते हैं यह लेख सन्देह निवारण में उनका साथ देगा।

ध्वनि : जिसके ऊपर अनेक शोध हुए और आज भी चल रहे हैं स्वयं में एक रहस्यमय शक्ति है। पृथ्वी का वायु-मण्डल सीमित है इसमें किसी बाहरी ग्रह का वायुमण्डल न तो प्रवेश करता है और न ही पृथ्वी का वायुमंडल क्षेत्र विस्तृत हो सकता है। जितनी भी ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं वे यहीं की यहीं रह जाती हैं और अपनी तरंगें प्रलयकाल के लिए छोड़ देती हैं। तालाब के बीच में कंकड़ फेंकने से जो लहरें पैदा होती हैं वे उसके किनारों तक पहुँचते-पहुँचते विशाल क्षेत्र बना लेती हैं, उसी प्रकार पृथ्वी पर ध्वनि अपना घेरा बढ़ाती हुई विशाल मण्डल में समाहित हो जाती है। बढ़ते हुए शोर-शराबे को कम करने के लिए आज भी वैज्ञानिक प्रयत्नशील हैं क्योंकि इस प्रकार का शोर न केवल मानसिक कष्टों को उत्पत्ति करता है बल्कि अनेक रोग भी पैदा होते हैं। एक वैज्ञानिक ने कहा था कि यदि मनुष्य सुई गिरने की आवाज को वायुमण्डल के परिधि क्षेत्र पर सुन ले तो उसके कान के पर्दे फट जायेंगे। एक बन्दूक की आवाज वायुमंडल की परिधि पर जा रहे हवाई जहाज को असंख्य टुकड़ों में बांट सकती है। अब हम सोचें कि कितनी विचित्र है ध्वनि की महिमा।

हमारे सनातन ऋषि मुनियों ने मन्त्रों का निर्माण महान विचार के साथ अध्यात्म विज्ञान के आधार पर किया था। कुछ मन्त्र ऐसे होते

है जिनका कोई अर्थ तो नहीं होता लेकिन तुरन्त फल दायक होते हैं। ऐसा क्यों? साबर मन्त्रों के लिए यह कहना उचित है कि:

अनमिल आखर, अरथ न जापू……!

फिर भी प्रत्येक क्षेत्र में यही साबर मन्त्र चमत्कार करते हुए दिखाई देते हैं अतः मन्त्र शक्तिशाली तो होते ही हैं फलदायक भी होते हैं मन्त्र जप दो प्रकार का होता है प्रथम मौन-जप द्वितीय उच्चारित जप। दोनों प्रकार का जप लाभकारी है। मौन जप स्वयं की आत्म-शुद्धि और आत्म कल्याण के लिए है जब कि शब्दोच्चारित जपके द्वारा उन समस्त प्राणियों का भी चाहे अनचाहे उद्धार हो जाता है जो मन्त्र जप की आवाज की परिधि में होते हैं। अब प्रश्न होता है कि किस मन्त्र का जप कितना किया जाय यह योगी के ऊपर निर्भर है गुरु के ऊपर आधारित है कि वे अपने अनुयायी अथवा साधक को कौनसा मंत्र बतायें। सभी बीमारियों पर एक ही औषधि नहीं चलती इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को विभिन्न परिस्थितियों में एक ही मन्त्र कारगर सिद्ध नहीं हो सकता।

उपासना और श्रद्धा भी मन्त्र जपमें विशेष सहायक है। योगदर्शन के अनुसार जिस व्यक्ति में आस्था हो और जिसका मन्त्र जप कर रहा हो उसी शक्ति के अनुरूप धारणा बनती है तभी समाधि की स्थिति की प्राप्ति होती है। मन्त्र व्यक्ति के मानसिक संवेगों को अधिक प्रभावित करते हैं। और मन का शारीरिक गतिविधियों से अटूट सम्बन्ध होता है।

मन्त्र शक्ति से रोग ठीक हो जाना, दारिद्र्य मिट जाना, सन्तान उत्पत्ति होना, मोक्ष पा जाना यह तो सम्भव है ही साथ ही साथ तामसिक प्रवृत्ति के लोग दुष्ट-शक्तियों को मन्त्र द्वारा वश में कर उच्चाटन-मारण आदि क्रियायें भी कर डालते हैं। ग्राम तन्त्रों धर्मग्रंथों का अध्ययन करने पर इन सबके प्रमाण मिल जाते हैं। इतिहास इस बात का साक्षी है। मन्त्र शक्ति के बल पर ही हमारे ऋषि मुनि सशरीर वायु में विचरण करते थे। देह बदल लेते थे। कहने का तात्पर्य यह कि मन्त्रों का सही प्रयोग असम्भव को सम्भव कर देता है।

अब अन्तिम प्रश्न उठता है कि विभिन्न मत मतान्तरों के बीच सहसा या भद्र व्यक्ति किस ओर जाय? इसका एक ही उत्तर है कि जिस गुरु के द्वारा उसे स्वयं आत्म सन्तोष की भावना उदय हो उसे अपनायें। विभिन्न देवी देवताओं को न मानकर एक परम कल्याणकारी आदि गुरु शिव में ध्यानस्थ हों। वर्तमान युग में व्यक्ति के पास इतना समय नहीं है कि वह अधिक से अधिक समय उपासना में दे, अतः प्रत्येक आस्थावान व्यक्ति को सद्गुरु की शरण में आकर उनके बताये हुए मार्ग पर चलना चाहिए, तथा मन्त्र जपका शुद्ध उच्चारण सम्पूर्ण श्रद्धा के साथ करें तो निश्चय ही फलदायक होता है। मन्त्रों में विश्वास करना ही महान सिद्धि है फिर मन्त्र जप की शक्ति को यदि साधक बढ़ा ले तो वह भी अनेक चमत्कारिक कार्य कर सकता है।

जय गुरुदेव

राजा पुरूरवा का वैराग्य

प्रेषक ब्रह्मचारी श्री धीरेन्द्रस्वरूप

(श्रीमद्भागवत महापुराण के ग्यारहवें स्कन्ध से)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—उद्धव जी ! यह मनुष्य शरीर मेरे स्वरूप ज्ञान प्राप्ति का एवं मेरी प्राप्ति का मुख्य साधन है, इसे पाकर जो मनुष्य सच्चे प्रेम से मेरी भक्ति करता है, वह अन्तःकरण में स्थित मुझ आनन्दस्वरूप परमात्मा को प्राप्त हो जाता है।

गुणमय्या जीवयोन्या,
विमुक्तो ज्ञाननिष्ठया ।
गुणेषु मायामात्रेषु,
दृश्यमानेष्ववस्तुतः ॥
वर्तमानोऽपि न पुमान,
युज्यतेऽवस्तुभिर्गुणैः ॥

जीवों की सभी योनियां सभी जातियां त्रिगुणमयी हैं। जीव ज्ञाननिष्ठा के द्वारा उनसे सदा के लिए मुक्त हो जाता है। सत्व, रज, तम आदि गुण जो दीख रहे हैं, वे वास्तविक नहीं हैं वे मायामात्र हैं। ज्ञान होने से साद-पुरुष उनके बीच में रहने पर भी उनके द्वारा व्यवहार करने पर भी उनसे बंधता नहीं है। इसका कारण यह है कि उन गुणों की वास्तविक सत्ता ही नहीं है। साधारण लोगों को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि जो लोग विषयों के सेवन और उदर-पोषण में ही लगे हुए हैं, उन असत् पुरुषों का संग कभी न करें, क्योंकि उनका अनुगमन करने वाले पुरुष की वैसी ही दुर्दशा होती है, जैसे अन्धे के सहारे चलने वाले अन्धे की, उसे तो घोर अन्धकार में ही भटकना पड़ता है।

ऐलः सम्राडिमां,
मायामगायत बृहच्छ्रवाः ।
उर्वशीविरहान्मुह्यन्,
निर्विण्णः शोकसंयमे ॥

उद्धव जी ! पहले तो परम तपस्वी सम्राट इलानन्दन पुरुरवा उर्वशी के विरह से अत्यन्त बेसुध हो गया था। पीछे शोक हट जाने पर उसे बड़ा वैराग्य हुआ तब उसने यह गाथा गाई।

राजा पुरुरवा नग्न होकर पागल की भांति अपने को छोड़कर भागती हुई उर्वशी के पीछे अत्यन्त विह्वल होकर दौड़ने लगा और कहने लगा—'देवि ! निष्ठुर हृदये ! थोड़ी देर ठहर जा, भाग मत।' उर्वशी ने उनका चित्त आकृष्ट

कर लिया था, उन्हें तृप्ति नहीं हुई थी, वे क्षुद्र विषयों के सेवन में इतने डूब गये थे कि उन्हें वर्षों की रात्रियां न तो आती और न जाती मालूम पड़ीं।

पुरूरवा ने कहा—हाय! भला मेरी मूढ़ता तो देखो, कामवासना ने मेरे चित्त को कितना कलुषित कर दिया। उर्वशी ने अपनी बाहुओं से मेरा गला पकड़ा कि मैंने अपनी आयु के न जाने कितने वर्ष खो दिये। ओह! विस्मृतकी भी एक सीमा होती है, इसने मुझे लूट लिया, सूर्य अस्त हो गया या उदित हुआ—यह भी मैं जान न सका, बड़े खेद की बात है कि बहुत से वर्षों के दिन-पर-दिन बीतते गये और मुझे मालूम तक नहीं पड़ा।

अहो मे आत्मसम्मोहो,
यत्रात्मा योषितां कृतः।
क्रीडामृगश्चक्रवर्ती,
नरदेवशिखामणिः॥

अहो आश्चर्य है! मेरे मन में इतना मोह बढ़ गया, जिसने नरदेव शिखामणि चक्रवर्ती सम्राट मुझ पुरूरवा को भी स्त्रियों का क्रीड़ा-मृग (खिलौना) बना दिया।

देखो, मैं प्रजा को मर्यादा में रखने वाला सम्राट हूं। वह मुझे और मेरे राजपाट को तिनके की तरह छोड़कर जाने लगी और मैं पागल होकर नंग-धड़ंग रोता बिलखता हुआ उस स्त्री के पीछे दौड़ पड़ा, हाय! यह भी कोई जीवन है—

किं विद्यया किं तपसा,
किं त्यागेन श्रुतेन वा।
किं विविक्तेन मौनेन,
स्त्रीभिर्यस्य मनो हृतम्॥

स्त्री ने जिसका मन चुरा लिया, उसकी विद्या व्यर्थ है उसे तपस्या, त्याग और शास्त्राभ्यास से भी कोई लाभ नहीं और इसमें संदेह नहीं कि उसका एकान्त सेवन और मौन भी निष्फल है। मुझे अपने ही लाभ हानि का पता नहीं, फिर भी अपने को बहुत बड़ा पण्डित मानता हूँ, मुझ मूर्ख को धिक्कार है। हाय, हाय! मैं चक्रवर्ती होकर भी गधे और बैल की तरह स्त्री के फंदे में फंस गया। मेरी कामवासना तृप्त न हुई। सच है, कहीं आहुतियों से अग्नि की तृप्ति हुई है।

जीवन मुक्तों के स्वामी इन्द्रियातीत भगवान को छोड़कर और ऐसा कौन जो मुझे उसके फंदे से निकाल सके। उर्वशी ने तो मुझे यथार्थ बात कहकर समझाया गया था। परन्तु मेरी बुद्धि ऐसी मारी गई कि मेरे मन का वह भयंकर मोह तब भी मिटा नहीं। जब मेरी इन्द्रियां मेरे हाथ के बाहर हो गयी, तब मैं समझता भी कैसे। जो रस्सी के स्वरूप को न जानकर उसमें सर्पकी कल्पना कर रहा है और दुःखी हो रहा है, रस्सीने उसका क्या बिगाड़ा

है इसी प्रकार इस उर्वशी ने भी हमारा क्या बिगाड़ा है। क्योंकि स्वयं मैं ही अजितेन्द्रिय होने के कारण अपराधी हूँ। कहाँ तो यह मैला-कुचैला दुर्गन्धि से भरा अपवित्र शरीर और कहाँ सुकुमारता, पवित्रता, सुगन्ध आदि पुष्पोचित गुण परन्तु मैंने अज्ञान वश असुन्दर में सुन्दर का आरोप कर लिया। यह शरीर माता पिता का सर्वस्व है। अथवा पत्नी की सम्पत्ति, यह स्वामी की मोल ली हुई वस्तु है, आग ईंधन है अथवा कुत्ते और गधों का भोजन। इसे अपना कहें अथवा सुहृद सम्बन्धियों का। बहुत सोचने विचारने पर भी कोई निश्चय नहीं होता। यह शरीर मल मूत्र से भरा हुआ अत्यन्त अपवित्र है। इसका अन्त यही है कि पक्षी खाकर विष्ठा कर दें, इसके सड़ जाने पर इसमें कीड़े पड़ जायें अथवा जला देने पर यह राख का ढेर हो जाय। ऐसे शरीर पर लट्टू होकर कहने लगते हैं, अहो इस स्त्री का मुखड़ा कितना सुन्दर है, नाक कितनी सुघड़ है, और मन्द-मन्द मुस्कान कितनी सुन्दर है!

अथापि नोपसज्जेत
स्त्रीषु स्त्रैणेषु चार्थवित्।
विषयेन्द्रियसंयोगान्मनः
क्षुभ्यति नान्यथा॥

इसलिए अपनी भलाई समझने वाले विवेकी मनुष्य को चाहिए कि स्त्रियों और स्त्री-लम्पट पुरुषों का सङ्ग न करें। विषय और इन्द्रियों के संयोग से ही मन में विकार होता है। अन्यथा विकार का कोई अवसर ही नहीं। जो वस्तु कभी देखी या सुनी नहीं गई है उसके लिए मनमें विकार नहीं होता। जो लोग विषयों के साथ इन्द्रियों का संयोग नहीं होने देते उनका मन अपने आप निश्चल होकर शान्त हो जाता है। अतः वाणी, कान और मन आदि इन्द्रियों से स्त्रियों और स्त्री लम्पटों का संग कभी नहीं करना चाहिए। मेरे जैसे लोगों की तो बात ही क्या बड़े-बड़े विद्वानों के लिए भी अपनी इन्द्रियाँ और मन विश्वसनीय नहीं है।

भगवान श्री कृष्ण कहते हैं—उद्धव जी! राजराजेश्वर पुरूरवा के मनमें जब इस तरह के उद्गार उठने लगे तब उसने उर्वशी लोक का परित्याग कर दिया। अब आत्मबोध ज्ञान के कारण उसका मोह जाता रहा। उसने अपने हृदय में ही आत्म-स्वरूप से मेरा साक्षात्कार कर लिया और वह शान्त भाव में स्थित हो गया। इसलिए बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि पुरूरवा की भाँति कुसङ्ग छोड़कर सत्पुरुषों का संग करें। सन्त पुरुष अपने सदुपदेशों से उसके मन की आसक्ति को नष्ट कर देंगे। परम भाग्यवान उद्धव जी! सन्तों के सौभाग्य की महिमा कौन कहे! उनके पास सदा सर्वदा मेरी लीला कथायें हुआ करती हैं। मेरी कथायें मनुष्य के लिए परम हितकर हैं। जो

उनका सेवन करते हैं, वह उनके पाप तापों को धो डालती है ।

> ता ये शृण्वन्ति गायन्ति
> ह्यनुमोदन्ति चादृताः ।
> मत्पराः श्रद्दधानाश्च भक्तिं
> विन्दन्ति ते मयि ॥

जो लोग आदर और श्रद्धा से मेरी लीला कथाओं का श्रवण गान और अनुमोदन करते हैं वे मेरे परायण हो जाते हैं। और मेरी अनन्य प्रेममयी भक्ति को प्राप्त कर लेते हैं। मैं अनन्त अचिन्त्य कल्याणमय गुण-गणों का का आश्रय हूँ। मेरा स्वरूप है—केवल आनन्द केवल अनुभव विशुद्ध आत्मा में साक्षात् परब्रह्म हूँ, जिसे मेरी भक्ति मिल गई वह तो सन्त हो गया, अब उसे कुछ शेष पाना नहीं है उसकी तो बात ही क्या जिसने उन सन्त पुरुषों की शरण ग्रहण कर ली उसकी भी कर्म जड़ता संसार भय और अज्ञान आदि सर्वथा निवृत्त हो जाते हैं। जो इस घोर संसार-सागर में डूब रहे हैं, उनके लिए ब्रह्म वेत्ता और शान्त सन्त ही एक मात्र आश्रय है। जैसे जल में डूब रहे लोगों के लिए दृढ़ नौका। जैसे अन्न से ही प्राणियों के प्राण की रक्षा होती। जैसे मैं ही दीन दुखियों का परम रक्षक हूँ। जैसे मनुष्य के लिए परलोक में धर्म ही एक-मात्र पूँजी है। वैसे ही जो लोग संसार से भयभीत हैं। उनके लिए सन्त जन ही परम आश्रय है।

> नैवमेस्तयो ऽप्येव-
> पुर्वश्या लोकनिःस्पृहः ।
> मुक्तसंगो महीमेता-
> मात्मारामश्चचार ॥

प्रिय उद्धव ! आत्म-साक्षात्कार होते ही इलानन्दन पुरूरवा को उर्वशी लोक की स्पृहा न रही उसकी सारी आसक्तियां मिट गई और वह आत्मानन्दमय होकर स्वच्छन्द रूप से इस पृथ्वी पर भ्रमण करने लगा।

❁ सार्थक–जीवन ❁

वर्ष, मास, दिन, पल व्यतीत जीवन के होते,
स्वार्थ, वासना विवश, शक्ति जन-जन निज खोते।
भरें स्वयम निज पेट, दीन दिन–दिन दुख पायें,
लाभ, लोभ, लिप्सा प्रेरित दुष्पाप कमायें।
असफल जग-जन-जन्म वह, जो केवल निज हित जिये,
'शङ्कर' साधक सिद्ध हो, जन हित, जन-सेवा किये।

—साहित्याचार्य श्री गौरीशङ्कर द्विवेदी 'शङ्कर', झांसी

कुण्डलिनी जागरण से अमरत्व प्राप्ति

[श्री हीरालाल शास्त्री]

योगिराजम—जिस प्रकार सर्पराज शेषनाग पृथ्वी के आधार माने गये हैं, उन्हीं की शक्ति से पृथ्वी स्थिर रहती है इसी प्रकार कुण्डलिनी भी शरीर का आधार है। यद्यपि यह मूलाधार चक्र में सोती हुई सी पड़ी रहती है और जब यह जागृत हो जाती है तो शरीरस्थ षट्-चक्र-भेदन हो जाता है उस दशा में सभी ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं और खुलने पर प्राण-वायु सुषुम्ना द्वारा ब्रह्मरन्ध्र में पहुँच जाता है उस दशा में बिना अवलम्ब के भी मन स्थिर हो जाता है और मन के स्थिर होते अमरत्व प्राप्ति का सौलभ्य लेकर साधक आनन्द में परब्रह्म दर्शन में मग्न रहता और इच्छानुसार मुक्ति लाभ करता है। यथा—

सशैल वन धात्रीणां
यथा धारोऽहिनायकः।
सर्वेषां हठतन्त्राणां
तथाधारा हि कुण्डलिनी॥
सुप्ता गुरु प्रसादेन
यदा जागर्ति कुण्डली।
तदापद्मानि सर्वाणि
भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपि च॥
प्राणस्य शून्य पदवी
तदाराजपथायते।
यदाचित्तं विनालम्बं
तदाकालस्य वंचनम्॥

अर्थात् वन, पहाड़ युक्त पृथ्वी को जिस तरह शेष जी धारण करते हैं इसी तरह कुण्डली शरीर का आधार है। गुरु कृपा से इसके जागने पर सब ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं। तब ब्रह्म खुल कर सुषुम्ना मार्ग वायु के लिए खुल जाता है।

मूलबन्धः—

पादमूलेन सम्पीड्य
गुदमार्गं सुयन्त्रितम्।
बलादपानमाकृष्य
क्रमादूर्ध्वं समभ्यसेत्॥
कथितो मूलबन्धोऽयं
जरामरण नाशनः।

अर्थात् गुदद्वार को वाम पाद की एड़ी से खूब दबाकर अपने वायु को ऊपर धीरे धीरे खींच कर ऊपर ले जावें। इसी को बुढ़ापा और मृत्यु को दूर करने वाला मूलबंध योगियों ने कहा है।

पार्ष्णिना वाम पादस्य
योनिमा कुञ्चयत्ततः।

नाभिग्रन्थिं मेरुदण्डे
सम्पीड्य पूर्णशक्तितः ॥
मेढ्रं दक्षिण गुल्फेन
दृढ़ बन्धेन पीडयेत् ।
जराविनाशिनी मुद्रा
मूलबन्धो निगद्यते ॥

बाईं ऐडी से दृढ़तापूर्वक गुदद्वार को दबाकर संकुचित करें, फिर पूरी शक्ति से नाभिग्रन्थि को मेरुदण्ड में लगाकर दाहिनी ऐड़ी से लिंग को दबाकर प्राणायाम पूर्वक अपान को ऊपर ले जाकर स्थिर करे।

उदरे पश्चिमोतानं
नाभेरूर्ध्वं तु कारयेत् ।
उड्डीयानाख्यबन्धोऽयं
मृत्यु मातंग केशरी ॥
सम्पूर्ण बन्धनेभ्यश्च बन्ध
उड्डियान संज्ञकः ।
विशेषगुणवान् प्रोक्तः
स्वभावादेव मुक्तिदः ॥

नाभि के ऊपर और नीचे प्राण वायु के संकोच से भीतर को दबाकर कुम्भक के साथ स्थिरतासे बैठ जाय यह सब बन्धों से विशिष्ट गुण युक्त स्वाभाविकी शक्ति द्वार हो जाता है मृत्यु विजय मुक्तिप्रद है।

नित्यं यः कुरुते योगी
चतुर्वारं दिनेदिने ।
तस्यनाभेस्तु शुद्धिः स्यात्
येनशुद्धो भवेन्मरुत् ॥
षण्मासमभ्यसेत् योगी
मृत्युञ्जयति दुस्तराद् ।
तस्योदराग्निर्ज्वलति
रसवृद्धिश्च जायते ॥
निर्जने सुस्थिते देशे
विधिपूर्वं समाचरेत् ।
यत्न पूर्वं गुरोर्लब्ध्वा
साधकः सिद्धिमाप्नुयात् ।

अन्य योगियों का प्रकार और फल यह है कि इसे प्रतिदिन चार बार करें तो नाभिशुद्धि हो जाती है तदनन्तर छः माह में निरन्तर अभ्यास करने से मृत्यु विजयी हो जाता है अग्नि प्रज्वलित होती है इसे निर्जन स्थान में एकान्त में ही विधि पूर्वक करने से सफलता मिलती है।

कण्ठं संकुच्य यत्नेन
चिबुकं स्थापयेत, हृदि ।
जालन्धराख्यबन्धोऽयं
पीयूषस्तु देहशुक् ॥

यत्न पूर्वक कण्ठ का संकोच करके ठोढ़ी को हृदय से चार अंगुल ऊपर ठोढ़ी को दृढ़ता स्थापित करके तालु से आने वाले छिद्र द्वारा अमृत शरीर में फैलता रहता है उसे नाभिस्थ सूर्य नहीं सुखा सकता, अतः अमृत के शरीर में फैलने से मृत्यु साधक की इच्छा पर निर्भर होकर भीष्म पितामह की तरह इच्छा मृत्यु का अधिकारी हो जाता है। इसी आधार पर अन्य योगियों ने इसे देवताओं को भी दुर्लभ बतलाया है। यथा -

बद्धा गलशिरा जालं हृदये
चिबुकं न्यसेत ।
बन्धो जालन्धरः प्रोक्तो
देवानामपि दुर्लभः ॥

अर्थात् गले के शिराजाल को संकुचित करके ठोढ़ी को हृदय पर स्थापित करें, इसे जालन्धर बन्ध संज्ञा दी है और अमृत पूर्ण शरीर करने से देवों को भी दुर्लभ बताया है।

बन्धेनानेन पीयूषं स्वयं
पिबति बुद्धिमानः ।
अमरत्वं च सम्प्राप्य
मोदते भुवनत्रये ॥
जालन्धराख्य बन्धोऽयं
सिद्धानां सिद्धिदायकः ।
अभ्यासः क्रियते नित्यं
योगिना सिद्धिमिच्छता ॥

समाधि साधन विधान (सरलयोग से)

सिंहासनं समासाद्य
कर्णचक्षुर्नसोमुखम् ।
अंगुष्ठ तर्जनीमध्याना-
नामिरत्वैव साधयेत् ॥
प्राणं संकृष्यका कीम्याम्
अपाने योजयेत्ततः ।
षट् चक्राणि क्रमाद् ध्यात्वा
हुं हंस मनुना सुधीः ॥
चैतन्यमानयेद् देवीं
निद्रिताया कुण्डलिनी ।
जीवेन सहितां शक्तिं
समुत्थाप्य कराम्बुजे ॥
स्वयं शक्ति मयोभूत्वा
शिवेन सह संगतिम् ।
नानसुखं विहारं च
चिन्तयेत् परमं सुखम् ॥
शिव शक्ति समायोगात्
एकान्ते भुविभावयेत् ।
स्वयमानन्द रूपोऽहं
परब्रह्मेति भावना ॥
योनिमुद्रा परागोप्या
देवानामपि दुर्लभा ।
सकृत्तु लाभ संसिद्धिः
समाधिस्थो भवेच्च सः ॥

अर्थात् साधक सिंहासन लगाकर दोनों कान दोनों अंगूठों से दोनों नेत्र दोनों तर्जनी अंगुलियों से दोनों नासा छिद्र दोनों मध्यमाओं से और मुख दोनों अनामिकाओं से दृढ़तापूर्वक बन्द करें फिर प्राण वायु को काकी मुद्रा से इतना खींचे कि नीचे अपान को ऊपर को खींची गई है दोनों मिल जांय फिर शरीरस्थ षट्चक्र का ध्यान करता हुआ "हुँ" और "हंस" इन दोनों मंत्रों को ध्यान पूर्वक जपता हुआ कुण्डलिनी शक्ति को जागृत करें और जीवात्मा के साथ मिली हुई कुण्डलिनी को सहस्रार पद्म में ले जायें और उस समय यह भावना करें कि मैं शक्तिमय होकर संयमासक्त होकर परम सुखभोग तथा विहार कर रहा हूँ और शिव शक्ति के संयोग से ही आनन्दमय बना हूँ इसे योनिमुद्रा कहते हैं यह मुद्रा परम गोपनीय है तथा देवताओं को भी दुर्लभ है इस मुद्रा का एक बार भी साधन पूर्णतया कर लेने पर साधक सिद्ध हो सकता है और इसी के द्वारा आतुर अनायास समाधिस्थ हो जाता है।

इससे साधकों को कुछ भी लाभ मिला तो भगवान् की कृपा ही समझूँगा।

प्रशस्ति गीतिः—

○ अभिनन्दन-पत्र ○

डा० नरेशकुमार ब्रह्मचारी, अध्यक्ष-पातञ्जल योग मंडल, दिल्ली

[अथ प्रातःस्मरणीयस्य योगयोगेश्वरस्य महर्षेः सुगृहीतनामधेयस्य योगिराजाधिराजस्य सिद्धस्य श्री चन्द्रमोहनस्य अभिनन्दन-पत्रम् ।]

योगित्विड्विव यः कलाववततार, देदीप्यमानश्चामानुषीत्विषा ।
प्रणमाम्यहमीदृशं तं भवन्तं, क्षितिलग्नशिरसा सुवचसा च मनसा ॥

जिन्होंने योगकी पुञ्जीभूत ज्योति के तुल्य इस कलियुग में अवतार लिया है तथा जो अपनी दिव्य-प्रभा से जाज्वल्यमान हैं ऐसे आपको मैं पृथ्वी पर मस्तक रखकर भाव-भरे हृदय और वाणी से प्रणाम करता हूँ ।

Who has incarnated in this kaliyuga as if the yogic effulgence personified and who is always ablaze with his celestial brilliance, I pay my salutations to such a revered yogin with (delighted) heart, (meek) voice and the head touching the ground.

नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः श्री चन्द्रमोहन-योगेश्वराय ।
गुरवे परम करुणासागराय, पातंजलालोक प्रकाशकाय ॥

महर्षि पतञ्जलि के यौगिक आलोक को फैलाने वाले दया के अगाध-सागर, योगियों में श्रेष्ठ गुरुदेव श्री चन्द्रमोहन जी को हजारों बार प्रणाम हो ।

Obeisance, obeisance to venerable preceptor Sh. Chandra-Mohan yogendra a thousand of times who is an unpathomable ocean of pity and a spreader of divine lustre of Patanjali.

अलिप्तभावेन विश्वस्थितोऽपि, मग्नः समाधौ किल एकतानः ।
जाने न कस्त्वम् नरदेहमेत्य, देहात्मधीनाञ्च धृतिदधानः ॥

अलिप्त भाव से संसार में रहते हुए भी आप हर समय समाधि में डूबे रहते हैं । अतः हे देव ! शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक तेजको धारण करने वाले मानव शरीर में प्रकट हुए आप वास्तव में कौन हैं ? यह मैं नहीं जानता ।

Though overthy living in the world and yet completely detached and lost in Samadhi (enlightenment) and endowed with physical, intellectual and spiritual lustre, I know not who are you—O Lord ! in this human body.

किं सच्चिदानन्द परमेश्वरस्य, मायातिरिक्तस्य प्रज्ञानशेषः ।
प्रमोह विध्वंसकरः प्रभावः, समागतो वा नररूप एषः ॥

क्या सच्चिदानन्द स्वरूप परब्रह्म का माया के लेश से रहित, विशुद्ध ज्ञानस्वरूप तथा अविद्याजन्य अन्धकार को नष्ट करने वाला प्रकाश ही मनुष्य के रूप में उतर आया है ।

Has the radiant knowledge of Sacchidananda God which is adept in eradicating the darkness of infatuation and is untouched dy the slightest shadow of delusion purposfully incarnated in this human form ?

हिरण्यगर्भस्य पितामहस्य, योगस्य वक्तुश्चतुराननस्य ।
किमागतो वा मुनिरूपधारी, ध्वान्तौघ संहारकः प्रभावः ॥

अथवा क्या योग-विद्या के आदि प्रवक्ता, संसार के पितामह चतुर्मुख ब्रह्मा जी का अन्धकार के समूह को नष्ट करने वाला प्रचण्ड प्रभाव ही तो मुनि का रूप धारण करके प्रकट नहीं हो गया है ?

Or has the violent fury of the four-faced grand Father Hiranyagarbha the expounder of Yoga appeared in the guise of a monk for dispelling the clouds of darkness ?

किंवाद्भुतं वैष्णवमेव तेजः सर्वस्य पातुर्जगतोऽथ भानोः ।
अरूपमव्यक्तमतर्क्यमेकं, स्वमायया व्यक्तभावं गतं वा ॥

अथवा क्या समस्त त्रिलोकी के प्रकाशक और पालक भगवान विष्णु का रूप-रहित अनिर्वचनीय, अचिन्तनीय एवं अप्रतिम तेज ही अपनी योग माया की शक्ति से प्रकट हो गया है ।

Or the shapless, indescribable in comprehensible and matchless lustre of Lord Vishnu who is the sole guardian and illuminator of all has become visible to all by dint of his divine Yogic power ?

भोगोपभोगस्य पङ्कार्णविप्लुतं, त्रातुम्न योगं भुवि योगिवेशः ।
विशुद्धयोगस्य प्रसारणाय, समुद्गतः किं स्वयमेव शेषः ॥

अथवा अपने योग-मार्ग को भोगी के उपभोग की कीचड़ में फँसा देखकर उसकी रक्षा करने तथा पुनरपि विशुद्ध योग साधन पद्धति का उपदेश करने के लिए योगी का वेश धारण कर भगवान पतञ्जलि ही तो स्वयं नहीं आ गये हैं ?

Or to save his Yoga from merging into the marsh of sensual indulgence and to spread the real Yogic splendour, Lord Patanjali has reincarnated.

प्रचण्डकोपानल दग्धकामः, सिद्धेश्वरो भूतनाथः शिवो वा ।
योगेश्वरो वा द्वैपायनो वा, दत्तात्रेयो वा मत्स्यो नु को वा ॥

अथवा क्या आप प्रचण्ड-कोप की ज्वाला से कामदेव को दग्ध करने वाले सिद्ध-पुरुषों में श्रेष्ठ तथा विलक्षण सिद्धियों से सम्पन्न शिव हैं या योगेश्वर कृष्ण हैं ? महा-योगी वेदव्यास हैं या दत्तात्रेय हैं अथवा मत्स्येन्द्रनाथ हैं ? यदि नहीं तो कृपया आप ही बतायें कि आप कौन हैं ?

Are you Lord Shiva the King of perfect beings and master of Godlypowers who had burnt up cupid in the fire of his violent fury or Lord Krishna the great Yogien ? Dvepayana Vyasa or Dattatreya or Yogeswara Matsyendra Nath ? Or not any of these aforesaid Yogins then (you kind yourcey unveil) your identity.

पूर्णं विधातुं ह्यवशिष्ट कर्म, समेत्य निजगुह्य विभूतिराशिम् ।
दम्भप्रसंहारकरः प्रवीरः, यतीशगोरक्ष इहागतः किम् ॥

अपने अधूरे कार्य को पूरा करने के लिए अपनी ऋद्धि-सिद्धियों से विभूषित, यति कुल मुकुट मणि तथा पाखण्ड के खण्डन में कुशल गुरु गोरखनाथ ही तो पुनः संसार में नहीं आ गये हैं।

Or to accomplish his remaining task Goraksanath the exterminator of hypocrisy (in the name of Yoga) has reappeared on this earth being equipped with all his mysterious perfections and super human powers ?

भोः देववन्द्य ! नमोऽस्तु तुभ्यं, अभिन्नाय चापि रमाधराय ।
अद्याप्यवेदेऽपि त्रिनेत्रधर्मे, अवतारो पद्मपीठाधराय ॥

(चाहे आप कोई भी क्यों न हों तथापि) भी आप विष्णु न होते हुए भी (दैवी) सम्पदा के पति हैं, शङ्कर न होते हुए भी तीन नेत्रों वाले हैं, ब्रह्मा न होते भी पद्मासन को धारण करने वाले हैं, इन समस्त देवताओं में श्रेष्ठ आपको प्रणाम हो।

(who so ever you may be, even then) O the supreme of all the celestial beings Salutations to you for you are the master of divine prosperity though other than Vishnu have got three eyes though not the Lord Shiva himself and are endowed with Lotus posture (Padmasana) and yet not the Lord Brahma.

भुञ्जन्ति न योगिनो वित्तभोगं, न भोगिनो योगफलं तथैव।
प्रक्षीणकामस्य त्वयि भगवंस्तु, योगश्च भोगश्च करस्थ एव॥

योगी लोग धनादि भोगों का उपभोग नहीं करते तथा भोगी लोग योगके अमृत-फल का आस्वादन नहीं कर पाते, किन्तु हे भगवन् ! समस्त कामनाओं से रहित होने पर भी आपको तो योग और भोग दोनों एक ही साथ प्राप्त हैं।

"Yogins do not enjoy the worldly pleasures and the wordly people are devoid of the nector fruit of Yoga but in your case, both the Yogic and the worldly pleasures are of your service of the same moment.

सम्प्राप्य योगामृतं तापसेभ्यो, वारिणि मेघा इव वारिराशेः।
संतप्तभूतेषु वर्षन्नजस्रं, पीयूषधर मेघ समो विभासि॥

जिस प्रकार मेघ अपना जल समुद्र से प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार सिद्ध-तपस्वियों से योगामृत को प्राप्त करके संसार के दुःखों से सन्तप्त जीवों पर उसकी अविरल वर्षा करते हुए आप अमृत बरसाने वाले बादल की भांति सुशोभित हो रहे हैं।

Having got the Yoga-nectar from ascetics like the clouds that collect their watet from the sea and now showering it at the halp parched up creatures, you appear like a nectar—showering celestial cloud.

न चात्मज्ञाने न तपः प्रकर्षे, न योगसंसुद्धि गहनेषु चैव।
विश्वेषु भूतेषु तव देव ! तुल्यः, त्वं तु परमः सिद्धयोगीजनानाम॥

न हि आत्म-ज्ञान में, न तप की उत्कृष्टता में और न योगविद्या के गहन विज्ञान में ही, समस्त संसार में कोई भी आपके समान है। अतः हे देव ! आप तो सिद्धपुरुषों तथा योगियों में भी सर्वश्रेष्ठ हैं।

Neither in spritual knowledge, nor in practising penance nor in deep science of Yoga, anybody can equal you, for you are the best of all the Yogiens and perfect beings.

शताश्वमेधाधिकफलप्रदं ते, देहि प्रसादं मे शरणागताय ।
शताश्वमेधी पुनरेति जन्म, प्रियोजनस्ते न पुनर्भवाय ॥

सैंकड़ों अश्वमेध यज्ञों से अधिक फल देने वाली अपनी कृपा मुझ शरणागत पर भी कीजिये—क्योंकि सौ अश्वमेध यज्ञ करने वाले को तो एक कल्प तक (स्वर्ग सुख भोगने के बाद) फिर जन्म लेना पड़ता है, किन्तु आपके कृपापात्र को फिर जन्मन नहीं होना है।

Pray, shower your blessing upon me which are much more efficacious than hundreds of asvamedha Yajnas for one who performs a human hundreds of Asvamedha Yajans has to get birth again but a man who has achieved your bounteous favour is liberated from the bondage of the births for good.

भवतो भक्ताः शरणागता ये, करुणाकटाक्षैरवलोकिता ये ।
ते ब्रह्मधाम प्रविशन्ति सर्वे, किल साधिकार खगा यथा खे ॥

जो आपके भक्त हैं तथा आपकी शरण में आ चुके हैं तथा जिन्हें आपने अपनी दयाभरी दृष्टि से देख लिया है, वे सब परमात्मा के लोक में इस प्रकार प्रविष्ट हो जाते हैं जैसे पक्षी अधिकारपूर्वक गगन में प्रवेश करते हैं।

Blessed are those who are disciples and devotees of yours, on whom you have cast a glance of kindness for all of them enter the supernal abode of God as their right like the birds in the open sky.

भक्तिः प्रभो मे भवत्येव वर्तते, यमीश्वरेऽनन्तविद्यानिधाने ।
साफल्यासाफल्ये च मे तथैव, शरण्यमन्यं यदहं न जाने ॥

हे प्रभो ! मेरे हृदय में तो योगियों में श्रेष्ठ एवं अनन्त विद्या के भण्डार आपही के प्रति भक्ति है। मेरी सफलता और असफलता आपकी ही सफलता और असफलता है, क्योंकि मैं अन्य किसी को भी शरण लेने योग्य महापुरुष को नहीं जानता।

O—the embodied Lord ! I posess this reverential faith only for you who is a sovereign of all the Yagins and a deep see of the science of Yoga. Now, both my success and failure are those of yours, for I am finding refuge other than you.

(पूर्व प्रकाशित से आगे)—

योग-साधना के सरल उपाय

श्री पूर्णचन्द्र पन्त शास्त्री

(१) यम-नियम—

यम-नियम योगविद्या के आधार-स्तम्भ हैं, अतः इनका पालन तत्परता से किया जाना चाहिए।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच यम कहलाते हैं।

अहिंसा—मन, वाणी और शरीर से किसी प्राणी को किंचित मात्र भी कष्ट न देना 'अहिंसा' है।

जो साधक अहिंसा का दृढ़ता से पालन करता है, उसके निकटवर्ती जीव भी वैरभाव त्याग देते हैं। ऋषियों के आश्रमों में शेर, हिरन, साँप, मोर आदि स्वभाव से ही वैरी प्राणी वैरभाव भुलाकर प्रेमपूर्वक एक साथ रहा करते थे।

हमारे परमपूज्य गुरुदेवजी अपने साधना-काल में जब कभी पर्वत पर घोर तपश्चरण किया करते थे, तो बड़े-बड़े जहरीले बिच्छू उनके शरीर पर चढ़े रहते थे, किन्तु काटते नहीं थे।

सत्य—आँखों द्वारा देखकर, कानों से सुनकर तथा बुद्धि द्वारा विचार कर अनुभव के आधार पर हितकार, प्रिय और हितार्थ वचन बोलना और उसी के अनुरूप व्यवहार करना 'सत्य' कहलाता है।

अस्तेय—पराये धन को मिट्टी के समान समझना तथा परिश्रम और न्याय से कमाये धन का उपभोग करना 'अस्तेय' कहलाता है।

ब्रह्मचर्य—मन, वाणी और कर्म से होने वाले सभी प्रकार के मैथुनों का सब अवस्थाओं में सदा त्याग करना 'ब्रह्मचर्य' कहा जाता है।

अपरिग्रह—अपने स्वार्थ के लिए ममता-पूर्वक धन-सम्पत्ति और भोग-सामग्री का संचय न करना 'अपरिग्रह' है।

जब योगी में अपरिग्रह का भाव पूर्णतया आ जाता है, तो उसे अपने पूर्वजन्मों और वर्तमान जन्म की सभी बातों का पता चल जाता है।

उसे अपने से सम्बद्ध घटनाओं का ही ज्ञान नहीं होता, बल्कि दूसरों के बारे में भी बहुत अपरोक्ष बातों का पता चल जाता है।

यहाँ मैं अपने एक साधक गुरु-भाई की

अनुभूतियों की उन दो घटनाओं का उल्लेख कर रहा हूँ, जो मुझसे सम्बन्ध रखती है।

कुछ मास पूर्व मैं गाहल नगर में अध्यापन कार्य करता था। गुरुदेव जी की कृपा से उन दिनों ध्यानाभ्यास नियमपूर्वक किया करता था, वहां मेरे किराये के मकानमें एक प्रेतात्मा का वास था। जब भी मैं ध्यान में बैठता, वह प्रेत सामने आ जाया करता और ध्यान में बाधा पहुँचाता था। एक दिन वह कुछ भयंकर रूपमें नजर आया। मैं कुछ भयभीत होने लगा, तो गुरुदेव जी के दर्शन हो गये और वह प्रेतात्मा गायब हो गई।

इसी बीच एक दिन हमारे उपरोक्त गुरुभाई मेरे पास ठहरे हुए थे, उनकी ध्यान-स्थिति अच्छी थी। अतः मैंने उनसे उस प्रेतात्मा का जिक्र किया और प्रार्थना की कि, "आप अपनी ध्यानस्थिति से इस रहस्य का पता लगाइये।" दूसरे दिन प्रातः उठते ही उन्होंने मुझे बताया—"आपका सन्देह ठीक है, सचमुच इस मकान में प्रेतात्मा का वास है और वह प्रेत इसी वंश से सम्बन्धित है। वह स्वप्न में मुझसे मिला और प्रार्थना की कि—जैसे भी हो मेरी मुक्ति का उपाय कीजिये, मैं कई वर्षों से प्रेत-योनि में हूँ।"

मेरी जिज्ञासा पर उन्होंने मुझे उसकी आकृति भी बताई, जो बिल्कुल वही थी, जो मैं ध्यान के समय देखा करता था।

इस घटना के कुछ महीने बाद मैं रामनवमी के अवसर पर श्री गुरुदेव के दर्शनार्थ सवाई धाम पहुँचा। प्रभुकी आज्ञा से मैं रास्ते में ही अस्वस्थ हो गया और बीमारी की हालत में वहां पहुंचा। वहां पहुँचकर मेरी हालत गंभीर होती गई। श्री महाराज जी ने मेरे आराम और उपचार की पूरी व्यवस्था करा दी। अत्यधिक व्यस्त रहते हुए भी वे दिन में कई कई बार मुझे देखने आया करते थे। एक रात मेरी स्थिति मरणासन्न सी हो गई। तीव्र ज्वर के साथ-साथ पसलियों का दर्द भी बढ़ता गया और सांस लेना भी दूभर हो गया। इसी बीच, मुझे एक जोर की उल्टी हुई, जिससे मेरी घबराहट कुछ शान्त हो गई और मैं अचेत सा पड़ा रहा।

प्रातः होते ही श्री महाराज जी मुझे देखने पहुँच गये। उस समय मेरा ज्वर कुछ कम था।

वे मेरा सिर सहलाने के बहाने कुछ समय मुझ पर शक्तिपात करते रहे और फिर यह कहते हुए चले गये—"बच्चा! घबराओ मत। ठीक हो जाओगे।"

उनकी कृपासे तीव्र ज्वर होते हुए भी उस दिन मुझे कोई कष्ट अनुभव नहीं हुआ। शाम के समय हुआ किन्तु गुरुदेव फिर मुझे देखने आये और गम्भीर होकर बोले—"बच्चा! यहां तुम्हें परेशानी हो रही होगी। अतः तुम्हारे ठहरने की व्यवस्था हमने नीचे अपने

सामने के कमरे में कर दी है।" प्रभु की आज्ञा पाकर मैं अपने एक भाई की सहायता से वहां चला गया। उसी समय उन्होंने कुछ लीला की जिसे मैं नहीं समझ सका। शहर से डाक्टर बुलाकर ढेर सारी दवाइयां मेरे पास रखवा दी और मुझ पर तीव्र शक्तिपात करके चले गये। उस रात मैंने कोई औषधि नहीं ली। फिर भी कोई कष्ट नहीं हुआ। सारी रात मैं चैन की नींद सोया रहा और प्रातः मैंने अपने को स्वस्थ पाया।

शायद ! वह रात मेरे जीवन की अन्तिम रात्रि थी। इसका पता हमारे उपरोक्त साधक भाई जी को सैकड़ों मील की दूरी पर चल गया। वहां से लौटने के बाद जब मैंने पत्र द्वारा अपनी अस्वस्थता की सूचना दी तो उन्होंने प्रत्युत्तर में लिखा था— आपको बचाई जाने की बधाई है। फलानी रात आपकी जीवन लीला समाप्त हो चुकी थी, किन्तु सर्व-समर्थ गुरुदेव ने आपको पुनः जीवन दान दे दिया है।

इस प्रकार अपरिग्रह यम का पालन करते हुए उसमें दृढ़ स्थिति हो जाने पर साधक को भूत एवं वर्तमान की अपरोक्ष घटनाओं का पता चल जाता है।

गुरुदेव की कृपा से उक्त भाई जी में अप-रिग्रह का भाव काफी आ चुका है। साथ ही वे मन्त्रजाप का अभ्यास भी बहुत करते हैं। जिस कारण उन्हें समय-समय पर सिद्धों के दर्शन भी होते रहते हैं।

नियम—शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान ये पांच 'नियम' कह-लाते हैं।

शौच—शौच का अर्थ है सफाई। जल-मिट्टी आदि द्वारा शरीर के बाह्य अंगों की शुद्धि नेति, धौति, बस्ति आदि षट्-कर्मों द्वारा भीतरी अंगों की शुद्धि और जप, तप, आदि से अन्तःकरण की शुद्धि होती है।

शौच (पवित्रता) का पूरी तरह पालन करने से साधक की अपने शरीर में भी अपवित्र बुद्धि हो जाती है और वह दूसरों का संसर्ग नहीं चाहता। इस प्रकार साधक का देहाभि-मान नष्ट होता जाता है तथा तीव्र वैराग्य के भाव जाग्रत हो जाते हैं।

शौच को शारीरिक तप कहा गया है। अतः इसका पालन तत्परता से करना चाहिए।

सन्तोष—फल की चिन्ता न रखते हुए कर्तव्य कर्म का पालन करते रहना, किसी प्रकार की कामना या तृष्णा का न होना तथा हर परिस्थिति में प्रसन्न रहना 'सन्तोष' कह-लाता है।

तप—व्रत उपासना करना, यम नियमों का दृढ़ता से पालन करना तथा गर्मी-सर्दी, भूख-प्यास आदि सभी द्वन्द्वों को प्रसन्नतापूर्वक सहन करना तप कहलाता है।

तप की गणना क्रियायोग में की गई है। यह विक्षिप्त चित्त वाले मध्यम श्रेणी के साधकों के लिए योगसिद्धि का एक उत्तम उपाय है।

तपके प्रभाव से अन्तःकरण के समस्त मल नष्ट हो जाते हैं। मनकी व्याकुलता नष्ट होकर उसमें सदैव प्रसन्नता बनी रहती है तथा विक्षेप दोष का नाश होकर एकाग्रता आ जाती है।

स्वाध्याय—पवित्र मन्त्रों का जाप तथा आर्ष ग्रन्थों (गीता, रामायण, पुराण, उपनिषद् आदि) का अध्ययन एवं मनन 'स्वाध्याय' कहलाता है।

ईश्वर-प्रणिधान—ईश्वर में अनन्य भक्ति तथा उसकी शरणागति ईश्वर प्रणिधान कहा जाता है।

योगमार्ग के पथिक को यम-नियमों का पालन अवश्य करना चाहिए। क्योंकि यम-नियमों के पालन से अन्तःकरण शुद्ध होता है और शुद्ध अन्तःकरण में ही परमात्मतत्व प्रकाशित होता है।

सत्येन लभ्यः तपसा ह्येष आत्मा,
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो,
यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥

(मुण्डकोपनिषद् ३/५)

शरीर के भीतरी हृदयदेश में विराजमान स्वतः प्रकाशस्वरूप परमविशुद्ध परमात्मा को सब प्रकार के दोषों से रहित शुद्ध अन्तःकरण वाले योगीजन सत्य भाषण, तपश्चर्या तथा ब्रह्मचर्य के पालन से उत्पन्न यथार्थ ज्ञान द्वारा ही देख सकते हैं।

—❀ मानस-शक्ति ❀—

शरीर शास्त्र की अपेक्षा मानस शक्ति के ज्ञान का मानवीय सुख-समाधान के साथ अधिक सम्बन्ध है। शरीर में बीमारी होने के पूर्व मन रोगी होता है, और मन रोगी होने के कारण शरीर रोगी होता है। अतः शरीर स्वास्थ्य के लिए मानसिक स्वास्थ्य सुरक्षित रखने की अत्यन्त आवश्यकता है। इसीलिए मनः संयम करना, मन में शिवसंकल्प रखना, सुजनों की संगति करना, दुष्ट विचारों को दूर रखना आदि धर्म नियम बनाये गये हैं। मन सत्य से शुद्ध होता है, बुद्धि ज्ञान से पवित्र होती है, इत्यादि जो नियम धर्म-शास्त्र में कहे हैं वे इसीलिए हैं। ये सब मनुष्य का सुख बढ़ाने वाले हैं। अध्यात्म ज्ञान का नित्य विचार करने का अर्थ अपनी शक्तियों का नित्य विचार करना है। अपनी शक्ति का विचार करने से यह शक्ति कैसे उन्नत की जाती है, इसका भी निश्चय होता ही है।

गतांक से आगे—

क्रिया योग-८

श्री गिरीशदेव वर्मा

शारीरिक तप—

देव द्विज गुरु प्राज्ञ पूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥

अहिंसा—

मनुष्य के लिए हिंसा एक बीमारी है, लेकिन पशु के लिए हिंसा स्वभाव है। मनुष्य के लिए हिंसा पशु से मिला हुआ संस्कार है, मगर उसके विकास को रोकने वाली बीमारी है। जिसे विकास करना है उसे अपने बीते काल को तोड़कर आगे बढ़ना है। मनुष्य का अतीत है उसकी पशुता और भविष्य है उसका परमात्मा होना, लेकिन जो पशु का अतिक्रमण न कर पाया वह परमात्मा के मन्दिर में प्रवेश नहीं पा सकता। जो अतीत के प्रति नहीं मर पाता है वह बीमार हो जाता है। जैसे एक छोटे बच्चे को कपड़े पहना दिये जावें और वह बच्चा जवान होने पर भी उन कपड़ों को शरीर से उतारने से इन्कार करे।

हिंसा मनुष्य का पशु जीवन में ग्रहण किया गया संस्कार है। पशु बिना हिंसा के जी नहीं सकता, पर हम हिंसा के साथ नहीं जी सकते। मगर आज मनुष्य अपने पशु स्वभाव को छोड़ नहीं पाया है। आज जिधर देखिये हिंसा, युद्ध, खून, हत्या ही दृष्टिगोचर हो रहा है। कभी हम शत्रुओं से लड़ रहे हैं, कभी धन के लिए लड़ रहे हैं, कभी मित्रों से लड़ रहे हैं, कभी यश के लिए, कभी पद के लिए। हमें लड़ने में रस आ रहा है। पति, पत्नी, पिता, पुत्र, भाई-भाई हर समय लड़ते दिखाई पड़ रहे हैं जीवन चारों तरफ हिंसामय है।

हिंसा मनुष्य के लिए रोग है। इसलिए योग-शास्त्र में कहा है कि विकास करने के लिए, आगे बढ़ने के लिए, विवेक ख्याति प्राप्त करने के लिए अहिंसा को अपनाना आवश्यक है। सूत्रकार ने अहिंसा को यम में पहिला स्थान दिया है तथा क्रियायोग में भी अहिंसा शारीरिक के अन्तर्गत एक साधन है और आवश्यक साधन है। बगैर अहिंसा के प्रतिष्ठित हुए योग के अन्य सोपानों पर चढ़ना कठिन ही नहीं वरन् असम्भव है।

योग की परिभाषा करते हुए बताया गया है कि चित्त की वृत्तियों का निरोध योग है

और हिंसा का मतलब है ऐसा चित्त जो लड़ने को आतुर है, ऐसा चित्त जिसका रस लड़ने में है। ऐसा चित्त जो बिना लड़े बेचैन हो जायगा। ऐसा चित्त जो बिना किसी को चोट पहुंचाये, बिना किसी को दुःख पहुंचाये, सुख न अनुभव करे। किन्तु ऐसा रोगी चित्त भीतर गहरे में दुःखी होगा। एक नियम है कि हम दूसरे को वही देते हैं जो हमारे पास होता है। जब मैं दूसरों को दुःख देने को आतुर होता हूं तो उसका इतना तो अर्थ है कि दुःख मेरे भीतर भरा है और मैं उसे किसी पर उलीच देना चाहता हूं। जब हम दुःख से भर जाते तो हम दूसरों पर दुःख फेंकना शुरू कर देते हैं। जो व्यक्ति हिंसा में उत्सुक है, उसने अपने साथ भी हिंसा करली है, इसलिए कहना यह पड़ेगा कि हिंसा भी आत्म-हिंसा का विकास है।

जीव-रसायन की दृष्टि से भी हिंसा, समाता है। जैसे ही चित्त हिंसा से भरता है, वैसे ही सारे शरीर में विषयुक्त द्रव्य दौड़ने शुरू हो जाते हैं। शरीर में ग्रन्थियां हैं जो विष को इकट्ठा करती हैं ताकि जरूरत पड़ने पर उसकी सुरक्षा करें। जब आप क्रोध करते हैं तब आपके पास वही खून नहीं रह जाता, जो क्रोध के पहिले था। आपका खून विष से भर जाता है। ग्रन्थियां उन जहरों को छोड़ देती हैं और आप लड़ने व मरने को पागल हो जाते हैं इसीलिये क्रोध की हालत में आप इतना बड़ा पत्थर उठा सकते हैं जो आप अक्रोध की हालतमें उठा नहीं सकते थे। क्रोध की स्थिति में आप अपने से ताकतवर आदमी को उठाकर फैंक सकते हैं, इसलिए कि आपके शरीर में केमिकल परिवर्तन हो गया। क्रोध अस्थायी पागलपन है और आदमी क्रोध में ऐसे काम कर लेता है जो उसने स्वयं कभी नहीं किया होता।

जब मनुष्य आदि काल के पाषाण युग में रहता था, उसका साथ पशुओं व हिंसक जीवों के साथ रहता था। उस समय इन विष-ग्रंथियों की आवश्यकता थी ताकि आपत्ति-काल में काम आ सके। एक शेर किसी पर हमला कर दे तो उसके पास भागने या लड़ने की असामान्य क्षमता होनी चाहिए। उस समय इतना पागलपन आ जाना चाहिए कि होश खोकर भाग सके या लड़ाई कर सके। हमारे शरीर की बनावट बड़ी विचित्र है। इसमें ऐसे-ऐसे द्रव्य भरे हैं जो विभिन्न समयों पर विभिन्न कार्य करते हैं। भोजन कर लेने पर पाचक रस निकल आते हैं। काम के वेग के साथ अन्य द्रव्य निकलना शुरू हो जाते हैं। क्रोधके समय भी एक प्रकार के विष निकलना प्रारम्भ कर देते हैं। आजकल के वैज्ञानिक कह रहे हैं कि अब आदमी को अहिंसा की शिक्षा देने की जरूरत नहीं है। हम उन विष-ग्रन्थियों को काट कर अलग कर देंगे और

आदमी अहिंसक बन जायगा, लेकिन यह एक खतरनाक सुझाव है। एक बैल को देखिये और एक सांड को। दोनों में केवल एक ग्रन्थि के कट जाने का फर्क है, लेकिन कहां बैल की दीनता और कहां सांड का गौरव। बैल की आत्मा विकसित नहीं हुई, वरन् वह दीन बन गया। मनुष्य की जिस दिन उक्त विष ग्रन्थियां काट दी जायेंगी वह दीन हो जायगा, उसका तेज नष्ट हो जायगा। अहिंसा यह नहीं सिखाती है। महर्षि पतंजलि ने लिखा है कि अहिंसा की प्रतिष्ठा कर लेने पर वैर-भाव छूट जाता है। अहिंसक मनुष्य के पास हिंसक जीव भी अहिंसक बन जाता है। इसीलिये तो सन्त-महात्माओं व योगियों के आश्रम में शेर व हिरन वैर-भाव छोड़कर विचरा करते हैं।

करीब चालीस साल पहिले की बात है जब मैं कालेज में पढ़ रहा था। मेरे कालेज की एक टोली कुम्भ के अवसर पर प्रयाग गई। वहां सुना कि एक महात्मा आये हैं जिनके पीछे एक शेर व एक कुत्ता चलता है। देखने की उत्सुकता बढ़ी तो हम लोगों ने उन्हें तलाश करना शुरू किया और तीसरे या चौथे दिन उनके दर्शन हो गये। उन महात्मा का नाम स्वामी कृष्णानन्द था। वे हिमालय से आये थे। उनका शरीर हृष्ट-पुष्ट था, वे बड़े तेजवान दिखाई पड़ते थे। एक शेर व एक कुत्ता उनके पीछे दुम हिलाते चल रहे थे। वे पशु मनुष्यों को देखकर किसी प्रकार का रोष नहीं कर रहे थे। लोगों ने बताया महात्मा जी ने अहिंसा की प्रतिष्ठा कर ली है, इसी से हिंसक पशु भी उनके वश में हो गये हैं।

महान दार्शनिक प्लेटो के सम्बन्ध में भी कहा जाता है कि वे जब जंगल में बैठ कर साधना करते थे तब सांप व बिच्छू उनके शरीर पर से गुजर जाते थे और काटते नहीं थे। हमारे बहराइच व गोंडा जिलों के बीच में बाबा रामभिलनदास रहते थे। उनका इसी वर्ष १०२ वर्ष की आयु में स्वर्गवास हुआ है। वे एक झाली में रहते थे, इससे उन्हें लोग झाली बाबा भी कहते थे। उन्होंने सात आठ वर्ष की आयु में घर छोड़कर वैराग्य ले लिया और उसी झाली में रहकर तपस्या करने लगे। उन्होंने तीन बार बारह-बारह वर्षों की एकांत साधना की थी। उन दिनों वे किसी से मिलते नहीं थे। अन्य समय में भी उनका एक कठोर नियम रहा है कि वे जन-साधारण से केवल शाम चार बजे से छः बजे तक मिलते और उपदेश देते थे, बाकी समय अपनी गुफा में बैठ कर साधना करते। उन्होंने कहीं शिक्षा नहीं पाई, किन्तु सिद्ध हो जाने पर उन्हें सभी वेद-शास्त्रों का ज्ञान हो गया। आस-पास के क्षेत्रों में उनकी बड़ी मान्यता थी। बड़े-बड़े राजे-महाराजे, अधिकारी उनके दर्शनों की आशा करते। उन्हें जमीन व सैकड़ों बीघे भूमि दान में मिली थी। उसका प्रबन्ध उनके साधु शिष्य सम्भालते हैं। वे तो अपनी गुफा में रहते थे।

स्वामी बाबा से मेरा विशेष सम्पर्क रहा है। मैं उनके आश्रम पर वर्ष में एकबार जरूर जाता रहा हूं। वहां एक रात निवास भी करता था। एक बार बाबाजी ने अपनी साधना की गुफा मुझे दिखाई, जो जमीन के नीचे बनी थी। मैंने वहां देखा कि वहां सैकड़ों बिच्छु फर्श पर व दीवारों पर रेंग रहे हैं। छोटे व बड़े सांप भी कुण्डल मार कर इधर-उधर बैठे थे। जब मैंने यह सब देखा तो मेरी हिम्मत उस गुफा में उतरने की नहीं हुई। मगर बाबा जी मेरा हाथ पकड़ कर वहां ले गये और बतलाया कि वे उसी गुफा में बैठ कर ध्यान धारणा करते हैं। ये जन्तु उन्हें काटते नहीं थे क्योंकि उन्होंने अहिंसा की प्रतिष्ठा कर ली है। अब बाबा जी तो ब्रह्मलीन हो गये। उनकी गुफा बन्द है, अब उसमें कोई जा नहीं पाता है।

एक और अनुभव। मेरे साथ एक पंडित कृष्णानन्द जी रहते थे वे काफी पढ़े लिखे थे और एक कार्यालय में काम करते थे। उनकी वेश-भूषा साधुओं जैसी थी। जटा-जूट व दाढ़ी रखाये थे। कार्यालय में जाते समय तो कपड़ा पहिन लेते थे किन्तु घर पर रहते समय केवल एक कोपीन व अंगछा पहिनते थे। वे खाना मेरे घर पर खाते थे मगर रात में नगर के बाहर नदी के किनारे श्मशान में चले जाते और वहीं नंगे बदन रह कर तप का साधन करते। सर्दी हो, गर्मी हो या बरसात उनका यह नियम बराबर चलता रहा। रात्रि में वे किसी छाया के नीचे नहीं रहते थे। बड़ा घोर तप था उनका। उनको रामायण, गीता, दर्शन आदि कण्ठस्थ थे और इनकी व्याख्या बड़े सुन्दर व रोचक ढङ्ग से करते थे। उनका स्वभाव बड़ा हंसमुख था और वे मित-भाषी थे। गीता में वर्णित स्थित-प्रज्ञ के लक्षण उनमें पाये जाते थे।

वे रात में नदी के किनारे बालू में लेटे रहते। जब मैं प्रातः स्नान के लिए नदी पर जाता तो बहुधा वे लेटे हुए मिलते और उनके दोनों पांवों के बीच में काला सांप बैठा हुआ दिखाई पड़ता। मुझमें मैंने चकित होकर पूछा कि पंडित जी, आपके पांवों के बीच सांप बैठा है, जरा सम्भल कर उठिये, तो वे हँस कर बोले कि मुझे मालूम है, यह सांप सर्दी से बचने के लिए मेरी टांगों में आराम कर रहा है। यह मुझे काट नहीं सकता क्योंकि मैंने अहिंसा की प्रतिष्ठा कर ली है। जब वे उठते तो सांप धीरे से निकल कर किसी बिल में चला जाता। ऐसा दृश्य बहुधा देखा जाता। कभी मैं उनके शरीर पर बिच्छुओं को रेंगते देखता, किन्तु वे डंक नहीं मारते थे। वे बड़े तपस्वी व योगी थे। उनका मेरा साथ चालीस वर्ष तक रहा और योग सम्बन्धी बहुत सी बातें मुझे उनसे प्राप्त हुईं। वे गृहस्थ थे। उनका परिवार गांव में रहता था और वे मेरे

पर रहते थे। आठ वर्ष हुए वे महन्सीन हो गये। उनके चार पुत्र हैं जो अच्छी-अच्छी जगहों पर काम कर रहे हैं। अहिंसा में प्रतिष्ठित होने से क्या सिद्धियाँ मिल जाती हैं, यह मैंने उनके जीवनमें प्रत्यक्ष गौरव देखा है।

हमारे अन्तःकरण में बहुत से चित्त हैं या चित्त की बहुत सी वृत्तियां हैं। एक चित्त क्रोध करता है, हिंसा करता है, दूसरा चित्त पश्चात्ताप करता है। एक चित्त संकल्प करता है कि अभी क्रोध नहीं करूंगा। ऐसे बहुत से चित्त हैं हमारे घर में।

गुर्जिएफ कहा करता था कि मैंने एक ऐसे घर के सम्बन्ध में सुना है जिसका मालिक कहीं दूर यात्रा पर गया था। बहुत बड़ा भवन था बहुत नौकर थे। वर्षों बीत गये, मालिक की खबर नहीं मिली। मालिक लौटा भी नहीं, सन्देश भी नहीं आया। धीरे-धीरे नौकर यह भूल गये कि कोई मालिक था भी कभी। फिर कोई-कोई यात्री उस महल के पास से निकलता और कोई नौकर सामने मिल जाता तो वह उससे पूछता—कौन है इस भवनका मालिक ? नौकर कहता—'मैं'। लेकिन आसपास के लोग बड़ी मुश्किल में पड़े क्योंकि कभी द्वार पर कोई मिलता, कभी द्वार पर कोई और। बहुत नौकर थे और हर एक कहता कि मालिक 'मैं' जब भी कोई पूछता कि कौन है मालिक इस भवन का, तो नौकर कहता—'मैं'। सारे लोग बड़े चिन्तित हुए कि कितने मालिक हैं इस भवन के! तब एक दिन सारे गांव के लोग इकट्ठे हुये और उन्होंने पता लगाया। सारे घर के नौकर इकट्ठे हुये तो मालूम हुआ कि वहां सभी मालिक थे, तब बड़ी कठिनाई खड़ी हो गई। सब नौकर लड़ने लगे। उन्होंने कहा कि मालिक हम हैं। जब बात बहुत बढ़ गई तब किसी एक बूढ़े नौकर ने कहा, क्षमा करें, हम व्यर्थ में विवाद कर रहे हैं। मालिक घर से बाहर गया है। हम सब नौकर हैं। मालिक लौटा नहीं, बहुत दिन हो गये। हम भूल गये और अब कोई जरूरत भी नहीं रह गई याद रखने की। फिर एक दिन मालिक लौट आया तो उस भवनके पच्चीस पचासों मालिक तत्काल विदा हो गये अर्थात् वे नौकर हो गये। यह आदमी के चित्त की कहानी है।

जब तक भीतर की आत्मा जागती नहीं, तब तक चित्त का एक-एक टुकड़ा, एक-एक नौकर कहता है मैं हूं मालिक। जब क्रोध करने वाला टुकड़ा सामने होता है तो वह कहता है मैं हूं मालिक और वह मालिक बन जाता है कुछ देर के लिए और पूरा शरीर उसके पीछे चलता है। शरीर को कुछ पता नहीं है फिर पश्चात्ताप करने वाला टुकड़ा आ जाता है और वह कहता है मैं हूं मालिक। तब शरीर रोता है और पश्चात्ताप करता है। वही शरीर जिसने तलवार उठा ली थी, वही आंसू बहाता है। उसको कुछ भी पता नहीं, वह किसी भी मालिक का अनुगमन करता है, जो भी जोर

आत्म-साक्षात्कार व योग

डा० श्री विष्णुदत्त शर्मा, बनारस यूनीवर्सिटी

यह जीव अज्ञान से मोहित हो रहा है और इसी कारण इस संसार चक्र में भटकता रहता है तथा सदा सर्वदा सुख और दुःख भोगता रहता है। अपने कर्मों के अनुसार यह देवता, मनुष्य, पशु-पक्षी आदि योनियों में न जाने कितने जन्मों तक भटकता रहता है। विभिन्न जन्मों में सभी एक दूसरे के भाई-बन्धु नाती-गोती, शत्रु-मित्र, मध्यस्थ, उदासीन और द्वेषी होते रहते हैं। जैसे स्वर्ण आदि क्रय-विक्रय की वस्तुयें एक व्यापारी से दूसरे के पास आती-जाती रहती है। वैसे ही जीव भी भिन्न-भिन्न योनियों में उत्पन्न होता रहता है। जैसे जल के वेग से बालू के कण एक दूसरे से जुड़ते, और बिछुड़ते रहते हैं, वैसे ही समय के प्रवाह में प्राणियों का भी मिलन और बिछोह होता रहता है। जैसे कुछ बीजों से दूसरे बीज उत्पन्न होते हैं और नष्ट हो जाते हैं वैसे ही ईश्वर की माया से प्रेरित होकर प्राणियों से अन्य प्राणी उत्पन्न होते और नष्ट होते रहते हैं। भगवान ही समस्त प्राणियों के अधिपति हैं, उनमें जन्म-मृत्यु आदि विकार कुछ भी नहीं। उन्हें न किसी की इच्छा है

[पिछले पृष्ठ का शेष]

से कहता है "आई एम दी मास्टर" शरीर तत्काल उसके पीछे खड़ा हो जाता है। जब मन कहता है 'ब्रह्मचर्य', तो शरीर कहता है बड़ी पवित्र बात है तैयार हूँ। दूसरा खण्ड कहता है 'भोग' तो मन कहता है कि बिल्कुल तैयार हूँ यही तो जीवन का ध्येय है। पाली साइकिक है आदमी। साइकिक है संरचना, उसकी जो मानव की संरचना है वह कई खंडों की है। मन बहुत खण्डों में बँटा है और तब तक बँटा रहेगा जब तक अखण्ड आत्मा बीच में जाग न जाय।

इसलिये दर्शनकार ने बताया कि अहिंसा की साधना के लिए अनेक चित्तों का निरोध करना पड़ेगा और तभी उसकी प्रतिष्ठा हो सकती है। आसन की सिद्धि करके जब ध्यान में प्रवेश हो जाता है, तब अनेक चित्तों की सत्ता समाप्त हो जाती है और निरोधावस्था में जो प्रतिफल मिलते हैं, वे हमें जगत में ले जाते हैं, जहां वैर-भाव छूट जाता है। यही क्रिया योग का शारीरिक रूप है।

अब आगे वाणी का रूप लिखेंगे।

और न अपेक्षा। वे अपने आप परस्पर प्राणियों की सृष्टि कर लेते हैं और उनके द्वारा अन्य प्राणियों की रचना पालन तथा संहार करते रहते हैं, ठीक वैसे ही जैसे बच्चे घरौंदे, खेल-खिलौने बना-बना कर बिगाड़ते रहते हैं। एक ही मृत्तिका रूप वस्तु में घटत्व आदि जाति और घट आदि व्यक्तियों का विभाग केवल कल्पना मात्र है उसी प्रकार यह देही और देह का विभाग भी अनादि एवं अविद्या कल्पित है। अर्थात् अनित्य होने के कारण शरीर असत्य है और शरीर असत्य होने के कारण उनके भिन्न-भिन्न अभिमानी भी असत्य ही हैं। त्रिकाल बाधित सत्य तो एक मात्र परमात्मा ही है। अतः हर प्रकार से उन्हें ही जानने का एक मात्र प्रयास करना चाहिए। स्त्री, धन, धाम, विविध ऐश्वर्य, सम्पत्तियाँ, शब्द-रूप-रस आदि विषय, सगे सम्बन्धी आदि सभी अनित्य हैं। ये सभी शोक, मोह, भय एवं दुःख के कारण हैं, मन के खिलौने हैं, सर्वथा कल्पित और मिथ्या हैं। यही कारण है कि ये एक क्षण दीखते पर भी दूसरे क्षण लुप्त हो जाते हैं। ये स्वप्न, जादू एवं मनोरथ की वस्तुओं के समान सर्वथा असत्य हैं। जो लोग कर्म वासनाओं से प्रेरित होकर विषयों का चिन्तन करते रहते हैं उन्हीं का मन अनेक प्रकार के कर्मों की सृष्टि करता है। जीवात्मा का यह देह जो पंचभूत ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों का संघात ही जीव को विविध क्लेश और सन्ताप देने वाली कहा गया है। अतः अपने मन को विषयोंमें भटकने से रोककर शान्त करना चाहिये और फिर उस मन के द्वारा अपने वास्तविक स्वरूप का विचार कर इस द्वैत भ्रम में सत्यत्व की बुद्धि छोड़ कर परम शान्त स्वरूप परमात्मा में स्थित हो जाना चाहिए।

इस प्रकार विचार करने से पता लगता है कि मनुष्यों की अपेक्षा अधिक दिन ठहरने वाले सुवर्ण आदि पदार्थों का सम्बन्ध भी मनुष्यों के साथ स्थाई नहीं क्षणिक ही होता है, और जब तक जिसका जिस वस्तु से सम्बन्ध रहता तभी तक उसकी उस वस्तु से ममता भी रहती है। सुख-दुःख को देने वाला न तो अपना आत्मा है और न कोई दूसरा। जो अज्ञानी है वे ही अपने अथवा दूसरों को सुख-दुःख का कर्ता माना करते हैं। यह जगत सत-रज आदि गुणों का स्वाभाविक प्रभाव है। प्रभु की माया शक्ति के कार्य पाप और पुण्य ही प्राणियों के सुख दुःख, हित-अहित, बन्ध-मोक्ष, मृत्यु-जन्म और आवागमन के कारण बनते हैं। जीव वस्तुतः नित्य और अहङ्कार रहित है। यह नित्य अविनाशी, सूक्ष्म सबका आश्रय और स्वयं प्रकाश है। इसमें स्वरूपतः जन्म-मृत्यु आदि कुछ भी नहीं, फिर भी ईश्वर रूप होने के कारण अपनी माया के गुणों से ही अपने आप को विश्व के रूप प्रकट कर देता है। इसका न तो कोई अत्यन्त प्रिय है और न कोई

अक्रिय क्योंकि गुण-दोष करने वाले चित्त-वायु आदि की भिन्न-भिन्न बुद्धि-वृत्तियों का यह अकेला ही साक्षी है। वास्तव में यह अद्वितीय है। यह आत्मा कार्य-कारण का साक्षी और स्वतन्त्र है इसीलिए यह शरीर आदि के गुण-दोष अथवा कर्म फल को ग्रहण नहीं करता, सदैव उदासीन भाव से स्थित रहता है। यह आत्मा नित्य है, शुद्ध है, निर्विकार है, अज है, सनातन है, चेतन है और ज्ञानमय है। आत्मा परमात्मा का ही स्वरूप है। आत्मा को जानने से परमात्मा को जाना जा सकता है और परमात्मा को जानने पर आत्मा और परमात्मा का कोई भेद नहीं रह जाता, वह उसमें मिल जाता है, अतः सब प्रकार से नित्य आत्मानुसंधान में ही लगे जाना श्रेयस्कर है। आत्मा में रमण करने वाले महापुरुष यश-अपयश जय-पराजय, सुख-दुख, जीवन-मरण, विषय निवृत्ति या प्रवृत्ति इनमें से किसी की भी इच्छा-अनिच्छा न रखकर सभी परिस्थितियों में समभाव से रहते हैं और प्रकृति के गुण दोषों से वे सर्वत्र निर्लिप्त रहते हैं। जो नर पशु केवल विषय भोग चाहते हैं वे नित्य आत्म स्वरूप का चिन्तन मनन न करके अन्यान्य देवी देवताओं की उपासना करते हैं। जैसे राजकुल के नष्ट हो जाने पर उनके अनुयायियों की जीविका भी जाती रहती है वैसे ही क्षुद्र उपास्य देवों का ह्रास होने पर उनके द्वारा दिये भोग भी नष्ट हो जाते हैं।

अतः सत्संग का श्रद्धापूर्वक सेवन करते हुए संसार की असारता और क्षण भंगुरता पर विचार करते हुए, विषयों के दुःखमय और अनित्य रूप को समझकर, आत्मा की नित्यता एवं सुख रूपता का अनुभव करते हुए आत्म-साक्षात्कार की ओर अग्रसर होना चाहिए। इस आत्म-साक्षात्कार के लिए प्रधान साधन है योग। वैसे अनेकानेक साधनों का शास्त्रों में उल्लेख मिलता है कहीं सत्य की प्रशंसा की गई है कहीं तप, शौच व क्षमा को तो कोई समत्व व मानवता को कहते हैं तो कुछ उपासना व वैराग्य उत्तम बतलाते हैं। इस प्रकार नाना विधि विचारों से भ्रमित व्यक्ति पाप कर्मों से युक्त होते हुए भी मोह में पड़े रहते हैं। इस प्रकार के विचारों का अवलम्ब लेकर मनुष्य विवशता से जन्म-मरण के चक्रों में पड़े रहते हैं। अतः शास्त्रों के अनेक विचारों से क्या अर्थ, जिसके जानने पर सब कुछ जाना जाता है उसी का प्रयत्न करना सर्वथा उचित है। भगवान शिव भगवती उमा से कहते हैं कि "यह हमारा बतलाया योग शास्त्र परम-गोप्य है। तीन लोक में किसी पवित्र विचार वाले भक्तात्मा को इसे बतलाना चाहिए—

"योग शास्त्र मिदं गोप्यम्
अस्माभिः परिभाषितम्।
सुभक्ताय प्रदातव्यं त्रैलोक्ये
च महात्मने ॥"

जिस गति को मनुष्य योग से प्राप्त कर लेता है वह तीव्र तप, स्वाध्याय, व यज्ञादियों से नहीं प्राप्त की जा सकती—

न च तीव्रेण तपसा न
स्वाध्यायैर्न चेज्यया गति।
गन्तुं द्विजाः शक्ताः योगात्
संप्राप्नुवान्तियाम् ॥

क्योंकि योगाग्नि अशेष पाप-पंजर को जल्दी ही जला देती है, अतः निर्मल ज्ञान को पाकर मनुष्य निर्वाण पद को पा लेता है—

योगाग्निर्दहति क्षिप्रम्
शेषं पाप पंजरम् ।
प्रसन्नं जायते ज्ञानं
ज्ञानान्निर्वाणमृच्छति ॥

योग से ज्ञान प्राप्त होता है, योग ही धर्म का लक्षण है, योग ही परम तप है, अतः प्रयत्न के साथ योग का ही अभ्यास करना चाहिए—

योगात्संप्राप्यते ज्ञानं
योगो धर्मस्य लक्षणम् ।
योगः परं तपो ज्ञेयः
तस्माद्योगं समभ्यसेत ॥

समस्त पाठक वृन्द को इतना इंगित कर देना विषयान्तर न होगा कि इस योग-पथ में अत्यन्त आवश्यकता होती है एक अनुभवी, शास्त्रज्ञ, एवं ब्रह्मनिष्ठ योगी गुरु की। इस मार्ग के पथप्रदर्शक श्री गुरुदेव भी सहज ही नहीं मिलते अपितु ईश्वर कृपासे अनेक जन्मार्जित पुण्य-पुंज के फलस्वरूप ऐसे अनुभवी दयालु सद्गुरुदेव मिला करते हैं। अतः यदि योग साधना में लगना है तो पहले चित्त में दृढ़ निश्चय करना होगा और फिर श्री गुरुदेव को खोजना होगा और ईश्वर कृपा से गुरु मिल जाय तब उनकी एक-एक छोटी से छोटी बात को महत्वपूर्ण और परमावश्यक समझ कर श्रद्धापूर्वक उनका अनुसरण करना होगा। हृदय में ज्ञान का दीपक जलाने वाले श्री गुरुदेव साक्षात ईश्वर ही हैं। जो दुर्बुद्धि पुरुष उन्हें मनुष्य समझता है उसका समस्त शास्त्र श्रवण हाथी के स्नान के समान व्यर्थ है। बड़े-बड़े योगीश्वर जिनके चरण कमलों का अनुसन्धान करते रहते हैं, प्रकृति और पुरुष के अधीश्वर वे स्वयं भगवान ही गुरुदेव रूप में प्रकट हैं, इन्हें योग भ्रमसे मनुष्य मानते हैं।

—

सच्चा-आनन्द

आनन्द को चह, आनन्द-कन्द को भूलि के प्राणी न आनन्द पावत ।
धरनी-धरनी, धन-धौत, सुधाम, सों आनन्द-हेतु ही नेह लगावत ॥
खोजत आनन्द गाठि को खोयके, मृग-तृष्णा में चकित धावत ।
"शान्त" जु चाहत आनन्द तो क्यों न आनन्द-कन्द सों हीय जुड़ावत ॥

—श्री मुरारीलाल शर्मा, 'शान्त'

अध्यात्म विद्या का आधार--योग

डा० श्री राधेश्याम द्विवेदी, ग्वालियर

अध्यात्म विद्या एक ऐसी विद्या है जिससे मनुष्य की वृत्तियां अन्तर्मुखी होती हैं और उसका समस्त क्रिया-व्यापार, मुक्त संग रहकर सहज कर्म में रत रहता हुआ भी आत्माभिमुख होता है। उसका हृदय एवं मस्तिष्क स्वकीयता की सीमित परिधि को लाँघ कर आत्मवत् सर्वभूतेषु समझ कर सभी प्राणियों के हित में संलग्न रहता है। विद्या प्रकाशकता होती है, मनुष्य को स्वरूप बोध कराती है और उसकी आत्मा को प्रकाशित करती है।

मनुष्य शिक्षा से संस्कारित होकर मनुष्य बन सकता है, किन्तु विद्या से तत्त्व बोध प्राप्त करता है। शिक्षा-डिगरियों के बोझको लादती हुई शिक्षा भी अनन्त ज्ञान के क्षेत्र में सात्त्विक वृत्तियों के सहारे प्रवेश दिला सकती है और राजस तथा तामस-वृत्तियों की प्रबलता में मनुष्य को विद्या के क्षेत्र में पदार्पण से वञ्चित रख सकती है, इसलिए शिक्षा मानवके पशुत्व को संस्कारित कर सकती है, किन्तु विद्या के अध्यात्म क्षेत्र से उसकी परिधि संकुचित और बहिर्मुखी है। विद्या केवल अन्तर्मुखी होती है।

अब प्रश्न यह है कि अध्यात्म विद्या में मनुष्य की प्रवृत्ति कैसे हो? इसका एकमात्र आधार योग है। योग अध्यात्म में ज्ञान-योग, भक्ति-योग एवं कर्म-योग के नाम से जाना जाता है। इनका समष्टिगत नाम भी योग है और व्यष्टिगत भी योग है। जो ज्ञेय है उसके विषय में जानकर कर्मयोग द्वारा उसकी भक्ति में अपने को समर्पित कर देने का नाम योग है अथवा भक्ति-कर्म द्वारा उसे जानकर देहादि सीमाओं से अतीत होकर स्वरूप बोध में एकात्म हो जाना यह भी योग है। इस प्रकार ज्ञान, भक्ति और कर्म की त्रिवेणी का संगम एक है। इनकी धारायें भी समन्वय कारक हैं और गन्तव्य भी एक है। केवल साधक और साधन भेद से इनमें पृथक् पृथक् समझ लिया जाता है और 'सिद्धयोग' में कठिनाई आती है।

इसी योग के द्वारा मोहान्ध अर्जुन को योगयोगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ने तत्त्व बोध कराया। उसे क्षात्र धर्म की शिक्षा देकर अध्यात्म-विद्या में पदार्पण कराया।

योगयोगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ने जगत के प्राणीमात्र को अर्जुनके माध्यमसे उद्बोधन दिया है कि गृहस्थी में उसका व्यवहार किस

प्रकार का होना चाहिए ? गुण कर्म के विभाग के अनुसार चतुर्वर्ण के सहज स्वाभाविक क्या कर्म हैं ? सात्विक, राजस एवं तामस वृत्तियां क्या हैं इन तीनोंके गुण कर्म क्या कैसे होते हैं ? सभी प्राणी मायिक यन्त्र पर आरूढ़ होकर किस प्रकार भ्रमित हैं ? ज्ञान कैसे आवृत्त है ? भक्ति अव्यभिचारिणी किस प्रकार की है ? कर्म, अकर्म और विकर्म की गति गहन है। सहज कर्म क्या है ? क्या कर्म विमुख होना अभीष्ट है या अनुचित है ? आदि गुत्थियां श्रीकृष्ण ने सुलझाते हुए इस दुस्तर संसार सागर से पार होने की व्यावहारिक सीख लोक को दी है।

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है कि स्वभावज कर्म के अनुसार स्वधर्म में रत प्राणी को सहज कर्म त्याज्य नहीं है :—

सहजं कर्म कौन्तेय,
सदोष मपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण,
धूमेनाग्निरिवावृताः ॥

(गीता १८/४८)

वाणीके तप में मनुष्य को बोलते समय यह ध्यान रखना है कि वाक्य अनुद्वेगकर यानी उद्वेग करने वाला न हो, सत्य हो किन्तु उसे प्रिय वचन के रूप में बोला जाय और उसे सुनने वाले के प्रति हितकारक होने का ध्यान रखा जाय अर्थात् ऐसा वाक्य जो केवल दूसरों को दुःखी करने के उद्देश्य से वाकपटुता प्रदर्शन के उद्देश्य से कहा जाय वह निरर्थक है।

अनुद्वेग करं वाक्यं सत्यं प्रिय हितं च यत् ।

(गीता १७/१५)

मनुष्य को युक्त आहार-विहार, युक्त कर्म-चेष्टा अपेक्षित है। यथा—

युक्ताहार विहारस्य,
युक्त चेष्टस्य कर्मसु ।
युक्त स्वप्नावबोधस्य,
योगी भवति दुःख हा ॥

(गीता ६/१७)

योगयोगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ने सबसे बड़ा बल संग-त्याग पर दिया है, उसमें आशय घर गृहस्थी के त्याग का या प्रियजनों के त्याग का या भिन्न त्याग का नहीं है, बल्कि अपने सहचर एवं प्रियजनों को अभ्युदय एवं निःश्रेयस कारक कर्मयोग में प्रवृत्त करना और सामूहिक रूप से सत्कर्म की प्रेरणा देना ही अभीष्ट है। संग त्याग का आशय है कि कर्म करते हुए उनमें आसक्ति न हो, अनासक्त भाव से केवल कर्त्तव्य बोध से कर्म, सहज कर्म किया जाय।

अतः संसार सागर में पद्म पत्र के समान रहें कि पूरे तौर पर उसमें डूबे रहने पर भी संसार की आसक्ति की एक बूंद मानस पटल पर टिक न सके। कहा है—

लिप्यते न स पापेन,
पद्मपत्रमिवाम्भसा ।
(गीता ५/१०)

इस जगत में आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी एवं ज्ञानी सभी प्रकार के मनुष्य अध्यात्म धारा को पाने हेतु सचेष्ट रहते हैं, उनके अपने-अपने ढङ्ग के कर्म होते हैं, किन्तु धर्म अविरुद्ध काम, नीति सम्मत काम ही भगवान का रूप होता है। काम एक विशुद्ध तत्त्व है, वह जीवन का आवश्यक अङ्ग है, किन्तु उसे धर्म के अविरुद्ध सद् स्वरूप में प्रयोग में, व्यवहार में आना होगा। धर्ममय अर्थ, धर्ममय काम ही कैवल्य के मार्ग पर अग्रसर करता है।

हम जो कुछ भी करते हैं, खाते हैं, पीते हैं, भजन, जप-तप करते हैं, ध्यान करते हैं, वह सब परमात्मा के अर्पण हो, बुद्धि व्यवसायात्मिका न हो, दृढ़ता, अनन्यता, निष्ठा और सत्येषणा हो। कहा है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु
(गीता ९/३४)

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्
(गीता १०/९)

यत्करोषि यदश्नासि,
यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय,
तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥
(गीता ९/२७)

परमात्मा सभी प्राणियों में रमता है उसके लिए न कोई द्वेषी है और न प्रिय है। वह सबमें समान रूप से है—

समोऽहं सर्व भूतेषु
न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
(गीता ९/२९)

वह द्रष्टा, अनुमन्ता, गति, भर्ता, प्रभु, साक्षी, सभी कुछ है, जो कुछ ऊर्जस्वित, सद्-विभूति है वह सब परमात्म रूप है।

यह तत्त्व बोध तभी प्राप्त होता है जब योग का आश्रय लिया जाय। गीता के अनुसार 'योगः कर्मसु कौशलम्' कर्म का कौशल ही योग है।

सम्यक् कर्म को कौशल के साथ करना योग है। इस प्रकार कर्म के कौशल से पतञ्जलि के योग के मूलाधार पर पहुँचा जा सकता है। हम आत्म-नियंत्रित हो सकते हैं। इन्द्रियों को स्वाधीन बना सकते हैं। हम इन्द्रियों के गुलाम नहीं बन सकते, फिर योग वह होगा जहां हम चित्त वृत्तियों का निरोध कर सकेंगे—

योगश्चित्त वृत्ति निरोधः

ज्ञान विज्ञान तृप्तात्मा
कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी
समलोष्टाश्म काञ्चनः ॥
(गीता ६/८)

योगी सुहृद मित्र और द्वेषी बन्धु के बीच उदासीन रहता है। निरन्तर आत्मा में अवस्थित रहता है—

भगवान श्री कृष्ण ने अर्जुन को यही उपदेश दिया है—

नैते सृती पार्थ जानन्योगी
मुह्यति कश्चन।
तस्मात् सर्वेषु कालेषु,
योग युक्तो भवार्जुन॥

किंकर्तव्य विमूढ़ अर्जुन जब सर्व साम्प्रदायिक संकुचित धर्मों का परित्याग कर एक मात्र निश्छल भाव से हृदय से शरणागत हुआ। तभी परमात्मा ने उसे बुद्धि योग प्रदान करके तत्व बोध कराया और तब अर्जुन ने कहा—

नष्टो मोहः स्मृति र्लब्धः
त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।

हे अच्युत ! आपके प्रसाद से मेरा मोह नष्ट हुआ और स्मृति की उपलब्धि हुई अब मैं वही करूँगा जो आपका आदेश होगा।

यह योगी द्वारा ही सम्भव हुआ और योग में प्रवृत्त होकर ही सम्भव हुआ। योग के बिना सब कुछ असम्भव है।

मानव के चतुर्दुर्धर्ष में योग बीज रूप में समाहित है, कर्म और प्रकृति को अनुकूल करने के लिए योग आता है। योग एकात्मभाव के लिए प्रथम सीढ़ी है और मानवता की सम्पूर्णता और ईश्वरत्व के लिए भी योग अन्तिम सोपान है।

'प्रसीद देवेश जगन्निवास'

—❀ चंचल प्राण और प्रकृति ❀—

चञ्चल प्राण ही प्रकृति है। इच्छा, क्रिया और ज्ञान प्रकृतिके रूप हैं, किन्तु स्थिर और अकेला होने पर अर्थात् जब कुछ भी न रहे, तब चञ्चलता किस में ठहरेगी और क्या कार्य करेगी ? इससे स्पष्ट ही जाना जा सकता है कि जिसको हम प्रकृति कहकर सम्बोधित करते हैं, वह केवल चञ्चल प्राण ही है। प्राण पुरुष की शक्ति है तथा उसी में अवस्थित है। स्थिर प्राण होने पर उसी को मुख्य प्राण, चेतना, आत्मा प्रभृति नामों से कहते हैं। चञ्चलता के कारण हम मुख्य प्राण या आत्मा का अनुभव नहीं कर पाते। योगाभ्यास द्वारा चञ्चल प्राण जब ब्रह्मरन्ध्र में जाकर स्थिरता प्राप्त कर लेता है, तब आत्मोपलब्धि होती है। बस, प्राण को स्थिर करने के लिए ही सब साधन हैं और प्राण के स्थिर हो जाने पर साधन का परमलक्ष्य सिद्ध हो जाता है, क्योंकि चञ्चलता न रहने पर स्थिरता ही रह जाती है।

मार्ग योग का सरल बड़ा है

[श्री जुगमन्दर दास बी० ए०, सहारनपुर]

सिद्ध गुफा का झण्डा हमने,
छाया है, लहरायेंगे ।
कोने कोने में दुनिया के,
इसका मान बढ़ायेंगे ॥
गुरु हमारे योगि राज हैं,
कोई न इनका सानी है ।
अनन्त अगम्य शक्ति इनकी,
इसको हम बतलायेंगे ॥
योग-जीवन को करे सुगन्धित,
समझो और इसको समझाओ ।
योग विहीन पशु सम विचरें,
मोक्ष कभी न पायेंगे ॥
रामलाल हैं शिव सनातन,
चन्द्रमोहन जिसके शिष्य ।
योग की गंगा बहा रहे हैं,
सब को यह दिखलायेंगे ॥
मार्ग योग का सरल बड़ा है,
मंजिल सबको ले जाता ।
सीखो सिद्ध गुफा द्वारे,
सीधी राह दर्शायेंगे ॥
हो तन भी उजला मन भी उजला,
योग विधि को पाकर के ।
मिलती है ऋद्धि-सिद्धि अनन्त,
यह सुन्दर ज्ञान करायेंगे ॥
देखो जाकर गुफा श्री पर,
का विधि समाधि लगती है ।
जो कहते वेद शास्त्र हैं,
बात सही समझायेंगे ॥
चरण पखारो श्री गुरु के,
सत शिक्षा उनसे मिलती है ।
'दास' कहे क्षण अन्दर ही,
कमल सभी खिल जायेंगे ॥

योगेश्वर चरित्र माला

—प्रभुजी के चरणों में योगी श्री मुलखराज जी

एक बार श्री प्रभुजी मुलखराज जी को व श्री गोपालानन्दजी को साथ लेकर के ओंकारे के पहाड़ पर गये। साथ में और भी बहुत से गृहस्थ शरीर थे। अन्य साथ में आने वाले सत्संगी लोगों ने जब इन दोनों की ऐसी दशा देखी कि पल-पल में मूर्छित हो जाते थे और शरीर चेतनाहीन होकर जड़वत् पत्थर की तरह गिर जाते थे। लोगों ने श्री प्रभुजी से प्रार्थना की कि प्रभो आप ले तो आये हैं किन्तु पहाड़ से नीचे कैसे उतारेंगे ? तो श्री प्रभुजी हँसे और कहा कि भाई ! यह तुम लोगों से पहले जायेंगे और कोई नुकसान भी होगा नहीं। लोगों ने श्री प्रभुजी से प्रार्थना की, महाराज ! हम यह देखना ही चाहते हैं कि ये लोग पागलों जैसी स्थिति में रहने वाले कैसे पहाड़ से नीचे उतर जाते हैं। लोगों की इस हार्दिक भावना को देखकर श्री प्रभुजी ने कहा कि अच्छा अभी हम तुम्हारे सामने इन्हें नीचे उतारे देते हैं। ऐसा कहकर श्री प्रभुजी ने दोनों को खड़ा कर लिया और निर्दय भाव से गर्दन पकड़ करके पहाड़ की चोटी से नीचे को धकेल दिया। सभी लोगों ने देखा कि श्री गोपालानन्द जी वायुँरी वृत्ति से नीचे जा रहे हैं और श्री मुलखराज जी उड़ियान गति से नीचे जा रहे हैं। लोग सभी पहाड़ पर ही खड़े थे। सभी को बड़ा आश्चर्य हुआ और लोग धन्य-धन्य कहने लगे।

ब्रह्मपुरी के जंगल में चीते का दर्शन और प्यार

एक बार श्री प्रभुजी ऋषिकेश योग-साधन आश्रम से ब्रह्मपुरी के जंगल में भ्रमण करने के लिये गये। ज्योंही ब्रह्मपुरी के जङ्गल में पहुँचे और संग में जाने वाले सभी घूमते हुए आगे बढ़ने लगे तो इतनी देर में देखा कि सामने से एक खूँख्वार चीता भागता हुआ आ रहा है। इसे देख करके सभी सत्सङ्गी डर गये और प्रार्थना करने लगे कि प्रभुजी इससे आज कैसे जीवन बचेगा ! श्री प्रभुजी ने आदेश दिया कि डरो मत, यह चीता तुमसे

कुछ नहीं कहेगा। अपना आहार लेकर व जल पी करके वापस लौट जायेगा। श्री मुलखराज जी महाराज उस समय श्री प्रभुजी के साथ थे और उनकी स्थिति बदल रही थी। नेत्र कुछ अर्द्धोन्मीलित सी दशा में हो गये थे। ऐसी हालत में श्री प्रभुजी ने श्री मुलखराजजी से कहा कि—बेटा! देख तो यह क्या आ रहा है? श्री मुलखराज जी ने थोड़ी सी दृष्टि उठाई और उस चीते की ओर देखकर कहा—प्रभुजी यह आपका बच्चा ही तो है। यह कहते-कहते श्री मुलखराज जी ने चीते को पकड़ लिया और उससे प्यार करने लगे। चीते के मन के अन्दर भी कोई द्वेष नहीं दिखाई दिया। वह उनके प्यार को पा करके स्वेच्छा गति से लौट गया न किसी से कुछ नहीं कहा। भगवान पतञ्जलि देव ने इसी सिद्धान्त का योग-दर्शन में अति स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादन किया है।

अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैर त्यागः

अर्थात् जिस योगी की अहिंसा में पूरी प्रतिष्ठा हो जाती है उसके प्रति प्राणीमात्र वैर छोड़ देता है।

श्री मुलखराज जी महाराज वर्षों तुरीय स्थिति में रहे। वे सब क्रियायें करते हुए भी देहाभास-रहित रहा करते थे। लगभग आठ महीने तो बिल्कुल ही बाह्य चेतना शून्य रहे। ऐसी स्थिति में सभी प्रकार के विषैले जन्तु भी इन पर अपना कोई प्रभाव नहीं डालते थे। सर्प, बिच्छू आदि अङ्ग में लिपट जाते और फिर अपनी स्वाभाविक गति से उतरकर चले जाते। श्री मुलखराज जी की यह स्थिति जब अनवरत बनी ही रहने लगी तो उनके घर वालों को बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंने श्री प्रभुजी के चरणारविन्दु में आकर प्रार्थना की—महाराज यही हमारा बड़ा लड़का है और यह यों ही मर्दों की तरह दिन-रात पड़ा रहता है। हमारा कोई भी कार्य व्यवहार नहीं चलता, इसलिए कृपा करके इसकी इस स्थिति में परिवर्तन कीजिये, जिससे कि यह अपना भजन, ध्यान करता हुआ दुनियावी व्यवसाय में भाग ले सके। यद्यपि योगयोगेश्वर श्री प्रभु जी की यह इच्छा बिल्कुल नहीं थी कि वे श्री मुलखराज जी को यत्किञ्चित भी बहिर्मुखता की ओर ले जायें, किन्तु उनके घरवालों के अतिशय अनुरोध करने पर श्री प्रभुजी ने उनकी प्रार्थना को स्वीकार कर लिया और आज्ञा दी कि—अच्छा कलसे मुलखराज तुम्हारे घर के सब काम करेगा, किन्तु आँखें उसकी बन्द ही रहेंगी। तुम्हारे किसी भी कार्य-व्यवहार में हानि नहीं हो सकेगी। काम सब बराबर चलते रहेंगे। श्री प्रभुजी के आदेश

को जाकर श्री मुलखराज जी के पिताजी ने प्रार्थना की कि महाराज बन्द आँखों से यह मुलखराज दुकान पर क्रय-विक्रय का कार्य कैसे कर सकेगा ? और इसकी आँखें बन्द रहते हुए किसी प्रकार का यदि नुकसान हो गया तो इसका जिम्मेदार कौन बनेगा ? श्री प्रभुजी ने उत्तर दिया—"कोई चिन्ता मत करो इससे किसी भी प्रकार का नुकसान हो गया तो उसके जिम्मेदार हम होंगे। श्री प्रभुजी के बार-बार ऐसा आश्वासन प्रदान करने पर श्री मुलखराज जी के पिताजी उनको अपने साथ ले गये और दुकान पर सौदा बेचने के लिये बैठा दिया। वह भी श्री प्रभुजी की आज्ञानुसार क्रय-विक्रय आदि सभी कार्य करने लगे।

दुकान पर अखण्ड समाधि

श्री प्रभुजी की परम अनुकम्पा से दुकान का सभी कार्य-भार श्री मुलखराज जी ने संभाल लिया। जिस दिन से श्री मुलखराज जी दुकान पर बैठे उसी दिन से दुकान की आय दसोगुनी अधिक बढ़ गई। श्री मुलखराज जी से सभी कुटुम्बी यह भली प्रकार से समझ गये कि यह सब कुछ श्री प्रभुजी की परम अनुकम्पा का ही फल है। एक दिन प्रातः काल के समय श्री मुलखराज जी की माताजी दुकान पर आईं उन्होंने आकर देखा कि उनके पुत्र श्री मुलखराज जी बिल्कुल निश्चल भाव से बैठे हुए हैं और उनकी अखण्ड समाधि लगी हुई है। उनके सिर पर एक चूहा चढ़ा हुआ है और दो पैर के बल खड़ा हो करके कभी उधर-सामने देखने लगता है और कभी इधर-उधर घूमने लगता है, किन्तु श्री मुलखराज जी को इसका यत्किंचित भी बोध नहीं है। अपने पुत्र की इतनी ऊँची स्थिति को देख करके उनकी माता जी ने श्री प्रभुजी का परम अनुग्रह माना और अपने बेटे को ही साक्षात् शिव का रूप मान कर उनको बार-बार नमस्कार किया।

श्री मुलखराज जी के पिताजी व उनके भाइयों के विचार कार्य सांसारिक थे। वे लोग श्री मुलखराज जी की ऊँची समाधि स्थिति को देखते हुए भी इन पर विश्वास नहीं रखते थे। अतः वे लोग इस आशा में थे कि मुलखराज जी के व्यापार कार्यों में कोई त्रुटि निकले या किसी प्रकार की हानि दिखलाई दे तो वे लोग श्री प्रभुजी से जाकर कहें कि आज मुलखराज ने हमारा अमुक नुकसान किया, किन्तु श्री प्रभुजी की अनुकम्पा से उनके भरसक छिद्रान्वेषण करने पर भी ऐसा कोई अवसर मिल नहीं पाया जिससे कि वे श्री मुलखराज जी की शिकायत कर सकें।

रसना तालु मूलेन यः प्राणमनिलं पिबेत् ।
अब्दार्द्धेन भवेत्तस्य सर्व रोगस्य संक्षयः ॥

जिह्वा द्वारा तालुमूल से जो रोगी प्राणवायु को पूरित करता है, वह छः महीने के अभ्यास से सब रोगों से मुक्त हो जाता है। —गोरखनाथ

❀ श्री गुरुदेव जी के आगामी योग-प्रचार कार्य-क्रम ❀

ता० ११-१-७८ से ता० १६-१-७८ तक	बनारस योग-प्रचार कार्यक्रम पता—द्वारा प्रो० डा० श्री ऋषिराम शर्मा ३०/६३ नगवा (लड्का) वाराणसी

ता० १७-१-७८ को कछवा प्रस्थान

ता० १८-१-७८ से ता० २१-१-७८ तक	कछवा योग-प्रचार कार्यक्रम पता—द्वारा स्वामी श्री प्रसादसिंह एडवोकेट मु० पो० कछवा, जि० मीर्जापुर

ता० २२-१-७८ को मीर्जापुर को प्रस्थान

ता० २२-१-७८ से ता० २६-१-७८ तक	मीर्जापुर योग-प्रचार कार्यक्रम पता—द्वारा वैद्य श्री लखनलाल उमर वैद्य श्री सोमनाथ आयुर्वेद भवन डंकीनगंज मीर्जापुर

ता० २७-१-७८ को दिलीपपुर प्रस्थान

ता० २८-१-७८ से ता० ३०-१-७८ तक	दिलीपपुर योग-प्रचार कार्यक्रम पता—द्वारा मास्टर श्री संगमलाल सोनी मु० पो० दिलीपपुर

ता० ३१-१-७८ को इलाहाबाद प्रस्थान

ता० १-२-७८ से ता० १२-२-७८ तक	इलाहाबाद माघ मेला योग-प्रचार कार्यक्रम पता—द्वारा डा० श्री बी० पी० चौहरी १३५-अलोपी बाग, इलाहाबाद

ता० १३-२-७८ को लखनऊ प्रस्थान

ता० १४-२-७८ से ता० २८-२-७८ तक	लखनऊ योग-प्रचार कार्यक्रम पता। पत्र-व्यवहार—द्वारा श्री मोहनलाल अग्रवाल ठेकेदार ८१/२० शिवपुरी, लाटूश रोड, लखनऊ

नोट—श्री गुरुदेव जी का निवास एवं प्रचार स्थल श्री छेदालाल की धर्मशाला, इण्डियन ओवरसीज बैंक के पास अमीनाबाद, लखनऊ।

योग के सिद्धान्त और शिक्षाओं का प्रतिपादक मासिक

सद्गुरु और शिष्य

शिष्य की व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति की ओर गुरु का सर्वप्रथम ध्यान जाता है। वह सर्वप्रथम शिष्य को ऐसे प्रभावों से बचाता है, जो उसका ध्यान आध्यात्मिक पथ से अन्यत्र खींचते हैं और उसकी आध्यात्मिक उन्नति में हस्तक्षेप करते हैं। आध्यात्मिक उन्नति में विघ्न डालने वाले संसर्गों से, शिष्य की रक्षा के लिए गुरु शिष्य को कुछ काल तक एकान्त में रहने की आज्ञा देते हैं। अपने गुरु की आज्ञानुसार प्राचीन काल के योगी अपना भोजन अपने हाथ से ही पकाते थे और भोजन करते समय किसी भी मनुष्य को उनके पास नहीं रहने देते थे। इसका कारण यह था कि वे बुरे विचार के लोगों की दृष्टि से उत्पन्न होने वाले संस्कारों से भी अपने आपको दूर रखना चाहते थे। जिस प्रकार स्वच्छ वस्त्र गन्दगी से दूषित हो जाता है, उसी प्रकार शिष्य का मन अन्य मनुष्यों की अज्ञानता के संस्कार से प्रभावित हो सकता है। जो लोग पथ में नहीं हैं, उनकी संगति करने से तथा उनसे संसर्ग स्थापित करने से शिष्य की हानि की सम्भावना रहती है। अतः ऐसे लोगों से अलग रहना ही शुरू-शुरू में श्रेयस्कर होता है।

—श्री मेहर बाबा

मुद्रक—देवीप्रसाद शर्मा 'मिश्र' कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, बसई कलां, ताजगंज, आगरा-१